हिमाचल का कला वैभव

संपादक

डॉ. तुलसी रमण

हिमाचल का कला वैभव

हिमाचल का कला वैभव

संपादक

डॉ. तुलसी रमण

सह संपादक

गिरिजा शर्मा

ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली के वित्तीय अनुदान से प्रकाशित

ISBN : 978-81-86755-80-2

प्रकाशक : **सचिव**
हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी
शिमला-171001

प्रथम संस्करण : **2016**

मूल्य : **230/-**

टाइप सैटिंग : **अरशद अली**

मुद्रक : **मीनाक्षी एंटरप्राइज़िज़**
11807, पंचशील गार्डन
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

A book : **Himachal Ka Kala Vaibhav**
Edited by : **Dr. Tulsi Raman**
Published by : **Secretary, Himachal Academy of Arts, Culture and Languages, Shimla-171001**
First Edition : **2016**
Price : **230/-**

आमुख

वीरभद्र सिंह

मुख्यमंत्री, हिमाचल प्रदेश एवं अध्यक्ष, हिमाचल अकादमी

हिमाचल प्रदेश का प्राकृतिक सौंदर्य अपने आप में परिपूर्ण व विश्वविख्यात है। यहाँ की धरती ऋषि-मुनियों की तपःस्थली रही है। लेखकों, कलाकारों और अन्य चिंतकों के लिए भी यह प्रदेश विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा है। यहाँ का लोक संगीत हो या नृत्य, चित्रकला हो, मूर्तिकला या वास्तुकला अथवा अन्य कोई शिल्प, इन सब पर हिमाचल की संस्कृति की विशेष छाप दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि हिमाचल प्रदेश की कला और संस्कृति ने पूरी दुनिया में अपनी एक अलग पहचान बनाई है।

हमेशा से ही पहाड़ी शासकों की कलाओं के प्रति विशेष रुचि रही है, जिसके फलस्वरूप राजाश्रय में सभी कलाओं का विकास हुआ, विशेषकर पहाड़ी लघु चित्रकला का, जिसका सूत्रपात सतरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तब हुआ, जब मुगलशासकों के आक्रमण के कारण कई कलाकार व चित्रकार अपनी जान बचाकर पहाड़ी क्षेत्रों में शरण के लिए पहुँचे और यहाँ के शासकों ने उन्हें आश्रय दिया। इन कलाकारों व चित्रकारों ने इस प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य को अपनी अनूठी कलात्मक प्रतिभा से अपने चित्रों में समाहित किया।

समय के साथ-साथ इस पहाड़ी लघु चित्रकला ने न केवल अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त की अपितु देश के विभिन्न संग्रहालयों के अतिरिक्त विदेशों के संग्रहालयों में भी आकर्षण की छटा बिखेरी है।

अपने अतीत को झांकें तो हिमाचल प्रदेश के मंदिरों का वास्तुशिल्प, धातु तथा प्रस्तर प्रतिमाएं, वस्त्र कला और अन्य कई प्रकार की हस्तशिल्प कलाओं का अपना विशेष महत्त्व रहा है, जो आज भी विद्यमान है। बाहर से भी कई चित्रकार हिमाचल में आकर बसे, जिनका लघुचित्र व विभिन्न कलाओं तथा प्रदेश के समकालीन चित्रकारों को बढ़ावा देने में सराहनीय योगदान है। इन सभी कलाओं और संस्कृति की अन्य विधाओं पर ध्यान केन्द्रित करें तो हिमाचल प्रदेश की एक विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर झलकती है, जिसका संरक्षण एवं संवर्धन करना हमारा सर्वोपरि कर्तव्य है।

मई, 2012 में हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी की ओर से 'हिमाचल का कला वैभव' विषय के अंतर्गत ललित कलाओं की विभिन्न विधाओं पर हिन्दी माध्यम से राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार का आयोजन किया गया। इस सेमिनार में पढ़े गए पत्रों तथा विषयानुकूल और जोड़े गए आलेखों को इस पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है। कला क्षेत्र में यह स्वागत योग्य कार्य है।

प्राक्कथन

डॉ. प्रेम शर्मा

उपाध्यक्ष, हिमाचल अकादमी

कला स्वयं में एक रचनात्मक प्रक्रिया है। मानव धीरे-धीरे प्रकृति प्रदत्त संसाधनों से अपने जीवन की सभी आवश्यकताओं को पूरा करता रहा और यही प्रक्रिया उसके कलात्मक जीवन की रचनाशीलता का प्रमाण है।

हिमाचल प्रदेश का भौगोलिक परिवेश कला साधना के लिए हमेशा उपयुक्त रहा है। यही कारण है कि समय-समय पर अनेक कलाकार अपने कला-कर्म के उद्देश्य से इन पहाड़ों में आबाद हुए हैं। सतरहवीं सदी के उत्तरार्ध में मुगलकला के सिद्धहस्त चित्रकार पहाड़ी शासकों के आश्रय में यहाँ आकर बस गए और उन्होंने अपनी चित्रकला में हिमाचल प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य को इस प्रकार पिरोया कि एक विशिष्ट शैली ' ाड़ी लघु चित्रकला' का जन्म हुआ।

भारतीय पुरातत्व विभाग के अधीक्षक जॉन फिलिप फोगल ने 1901 में तत्कालीन पंजाब के पहाड़ी इलाकों की यात्रा की तो चंबा कला से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने चंबा के राजा भूरि सिंह के प्रश्रय में इस क्षेत्र की पुरा-संपदा का संग्रह करके भूरिसिंह संग्रहालय की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

आधुनिक चित्रकला की प्रख्यात चित्रकार अमृता शेरगिल ने 1921 में शिमला में आकर निवास किया और यहाँ पर ऐसे अनेक चित्रों की रचना की, जो भारतीय चित्रकला में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। रूस के प्रख्यात चित्रकार निकोलाई रेरिख का परिचय भी किसी का मोहताज़ नहीं है। वे ज़िला कुल्लू के 'नग्गर' नामक गाँव में आकर बस गए। उन्होंने हिमालय को ऐसे रंगों में पिरोया कि उनके चित्रों की 'हिमालय श्रृंखला' विश्वव्यापी हो गई।

पद्मश्री सरदार सोभा सिंह आज़ादी के उपरांत कांगड़ा घाटी के अंद्रेटा गाँव में आकर बस गए और यहीं पर शेष चित्रकला साधना की।

जे. स्वामीनाथन, रामकुमार, कृष्ण खन्ना आदि चित्रकार हिमाचल प्रदेश से वाबस्ता रहे हैं। वर्तमान में भी विभिन्न पीढ़ी से ताल्लुक रखने वाले ऐसे अनेक कलाकार हैं, जो कला के क्षेत्र में साधनारत हैं। अकादमी की ओर से प्रकाशित इस पुस्तक में अनेक कला समीक्षकों के ऐसे लेख संकलित हैं, जिनमें अधिकांशतः अकादमी द्वारा वर्ष 2012 में आयोजित 'हिमाचल का कला वैभव' सेमिनार में पढ़े गए। आशा है हिन्दी भाषा में प्रकाशित यह पुस्तक कला प्रेमियों को पसंद आएगी।

पुरोवाक्

शशि ठाकुर हि.प्र.से.
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश
एवं उपसभापति, अकादमी कार्यकारी परिषद

कला और कलाकार का आविर्भाव प्रकृति से होता है और हिमाचल प्रदेश प्राकृतिक परिवेश में बहुत सम्पन्न प्रदेश है। मंदिर स्थापत्य और पहाड़ी चित्रकला इन दो कलाविधाओं ने सांस्कृतिक अस्मिता के क्षेत्र में हिमाचल प्रदेश को न केवल राष्ट्रीय अपितु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई है।

कला के पारखी लोगों ने यहाँ की प्रकृति से बहुत कुछ ग्रहण किया है। पहाड़ी चित्रकला में जहाँ प्रकृति अपनी पूरी नैसर्गिकता के साथ यहाँ के भू-चित्र को जीवंत करती है, वहीं स्थानीय विशेषताओं से युक्त सुगंधित देवदार के भारी भरकम शहतीरों से विभिन्न शैलियों में सुन्दर नक्काशी लिए निर्मित मंदिर मुख्य राष्ट्रीय धारा से एकीकृत होते हुए भी अपनी एक अलग और विशिष्ट पहचान रखते हैं। इसी प्रकार यहाँ की प्रस्तर, कांस्य व अष्टधातु में निर्मित प्रतिमाएँ और मूर्तियाँ भी प्राचीनता के इतिहास को यथावत् स्वयं में समेटे हैं, जो आज भी लोगों की आस्था एवं श्रद्धा की प्रतीक हैं। इनमें प्रतिमा कला के मानक दंडों पर पूर्णतः रूपायित ज़िला चम्बा की छतराड़ी शक्तिदेवी और ज़िला शिमला के हाटकोटी में महिषासुरमर्दिनी उल्लेखनीय हैं।

ललित कला के क्षेत्र में स्थानीय कलाकारों के अलावा बाहर के कलाकारों का भी हिमाचल की प्रकृतिजन्य कला के प्रति रूझान रहा है। भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में शीर्षस्थ कलाकार के रूप में स्थापित हिमाचल से जुड़े उन कलाकारों ने बहुत सी कालजयी कृतियों का निर्माण किया है। हिमाचल के जनजातीय क्षेत्रों की कलाओं विशेषकर भित्तिचित्र और मूर्तिकला का भी अलग आकर्षण है। भौगोलिक स्थिति के अनुरूप यहाँ के बौद्ध विहारों व गोन्पाओं का निर्माण हुआ। इनके स्थापत्य व निर्माण में स्थानीय संसाधनों का प्रयोग होता था। यही कारण है कि आज भी इन गोन्पाओं व बौद्ध विहारों का अस्तित्व, इनकी दीवारों पर उकेरे गए भित्तिचित्र व मूर्तियां विश्वपटल पर अपनी उपस्थिति दर्शाती हैं। अकादमी द्वारा इन्हीं सब कला विधाओं में कला कर्म कर रहे कलाकारों को मंच प्रदान करने के लिए व्याख्यानों, शिविरों तथा प्रदर्शनियों के आयोजन किए जाते रहे हैं। ऐसे ही एक कला व्याख्यान कार्यक्रम पर एकत्रित हुए आलेखों का संग्रह संपादित कर अकादमी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है पाठक प्रदेश की विभिन्न कला विधाओं से परिचित हो सकेंगे।

पूर्व पीठिका

अशोक हंस

सचिव, हिमाचल अकादमी

'कला' एक ऐसा शब्द है, जो बराबर चर्चा का विषय बना रहा है और एकाधिक अर्थों में परिभाषित हुआ है। एक समय तक या यूँ कहें अठारहवीं शताब्दी तक किसी पूर्व निश्चित परिणाम की प्राप्ति के लिए किसी एक विद्या या हुनर का बाकायदा प्रयोग ही 'कला' शब्द को नामोदिष्ट करता था। इस भाव से इस शब्द का प्रयोग आज भी होता है, जब हम बर्तन बनाने, टोकरियाँ आदि बनाने की कला की बात करें या दवाइयाँ बनाने की कला की या राजनीति अथवा किसी और शिल्प विद्या की।

अठारहवीं सदी में कलाओं को दो वर्गों में बाँटने का एक सफल प्रयास हुआ, उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ। ललित कलाओं में साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीत, नृत्य और रंगमंच कलाएँ शामिल की गईं। यह भी तर्क रखा गया कि यद्यपि उपयोगी कलाएँ आसानी से सीखी जा सकती हैं और उनमें आसानी से नैपुण्य प्राप्त किया जा सकता है तथापि ललित कलाएँ प्रतिभा की रचनाएँ होने के कारण उन मापदंडों और सिद्धांतों में परिणत नहीं की जा सकतीं कि उन्हें जबरन सीखा जा सके। यह कहना भी अतिश्योक्ति नहीं कि ललित कलाओं में सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण भी एक प्रतिभावान कलाकार बनने में सहायक सिद्ध होता है। यह दीगर बात है कि कलाहीन व्यक्ति द्वारा कला को सीखना तो दूर की बात, अपितु प्रामाणिक कलात्मक अभिव्यंजनाओं की कमी के कारण वह किसी निकृष्ट रचना को उत्कृष्ट रचना माने।

अस्तु, समय के साथ-साथ सृजनात्मक लेखन की कला यानी साहित्य एक अलग विधा मानी जाने लगी और ललित कलाएँ दो वर्गों में बंट गईं। निष्पादन कलाएँ और ललित कलाएँ। निष्पादन कलाओं में संगीत, नृत्य एवं नाट्य कलाएँ समंजित हो गईं और ललित कलाओं में चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला एवं अन्य हस्तशिल्प कलाओं जैसी अनिष्पादित कलाओं को अधिमान दिया गया।

जैसा कि नाम से ही विदित है कि हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी अपनी विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत संस्कृति, भाषा और साहित्य के अतिरिक्त कला के क्षेत्र में निष्पादन कला और ललित कला दोनों ही विधाओं में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है, जिसके अंतर्गत अन्य आयोजनों के अलावा पुस्तकें भी प्रकाशित

की जाती रही हैं।

ललित कलाओं पर 'हिमाचल का कला वैभव' परियोजना के अंतर्गत एक सेमिनार तथा पुस्तक प्रकाशन के लिए वर्ष 2012 में हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी द्वारा ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली से वित्तीयानुदान दिए जाने का निवेदन किया गया, लेकिन सेमिनार के लिए ही एक लाख रुपये का वित्तीयानुदान प्राप्त हुआ।

सेमिनार सफल रहा और इसमें ललित कलाओं के विभिन्न विषयों पर पढ़े गए शोध आलेखों के साथ-साथ कुछ अन्य विषयानुकूल लेखों को लेकर एक पांडुलिपि प्रकाशनार्थ तैयार की गई, 'हिमाचल का कला वैभव' नाम से, जिसका संपादन हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी के पूर्व सचिव डॉ. तुलसी रमण ने किया।

किन्हीं कारणों से तब यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हो पाई। ललित कला अकादेमी द्वारा 'हिमाचल का कला वैभव' सेमिनार के लिए प्राप्त वित्तीयानुदान में से शेष बची राशि के अंतर्गत उक्त पुस्तक के प्रकाशन की स्वीकृति भी वर्ष 2015 में प्राप्त हुई। फलस्वरूप प्रस्तुत है हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी का यह महत्त्वपूर्ण प्रकाशन 'हिमाचल का कला वैभव'।

श्री वीरभद्र सिंह, माननीय मुख्यमंत्री, हिमाचल प्रदेश एवं अध्यक्ष, हिमाचल अकादमी ने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए जहाँ हमें नियमित स्वीकृति प्रदान की है, वहीं इस पुस्तक के लिए अपना 'आमुख' प्रस्तुत करके हमें अनुगृहीत किया है। इसके लिए हम उनके धन्यवादी हैं।

साथ ही हम कृतज्ञ हैं इस अकादमी के माननीय उपाध्यक्ष एवं कार्यकारी परिषद के सभापति डॉ. प्रेम शर्मा का, जिन्होंने इस पुस्तक में अपना प्राक्कथन शामिल करने की अनुमति प्रदान की है। हम निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश एवं माननीय उपसभापति, अकादमी कार्यकारी परिषद का भी धन्यवाद प्रकट करते हैं, जिन्होंने इस पुस्तक में अपना पुरोवाक् शामिल करने की सहमति दी है।

यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं कि जहाँ अकादमी के पूर्व सचिव डॉ. तुलसी रमण ने इस पुस्तक का संपादन मनोवेग से किया है, वहीं अकादमी की अनुसंधान अधिकारी श्रीमती गिरिजा शर्मा (संस्कृत) ने सह संपादक के रूप में पूर्ण योगदान दिया है।

ललित कला अकादमी, नई दिल्ली का भी 'हिमाचल का कला वैभव पर सेमिनार एवं पुस्तक प्रकाशन' हेतु वित्तीयानुदान प्रदान करने के लिए हम आभार प्रकट करते हैं। आशा है कि कला जगत में यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

संपादकीय

डॉ. तुलसी रमण

भारत की प्रमुख ऐतिहासिक चित्र शैलियों में अजंता, जैन, मुगल और राजस्थानी के साथ पहाड़ी लघुचित्र शैली का विशेष उल्लेख होता है। यह चित्र शैली इतिहास के एक खास दौर की उपज है। मुगल शासन काल में भारत में एक स... तिक आंदोलन शुरू हुआ और विभिन्न कलाओं के उभार का नया दौर चला। कलाप्रिय मुगल सम्राटों की चित्रशालाओं में ईरानी उस्ताद चित्रकारों के आगमन के साथ भारतीय चित्रकला में विषयवस्तु और तकनीक के स्तर पर नयी प्रवृतियाँ विकसित हुईं। ईरानी उस्तादों और भारतीय चित्रकारों ने मिलकर अपने हुनर पर एकाग्र किया और मुगल कला को उत्कर्ष तक पहुँचाया।

मुगल सम्राटों के अधीन होने के कारण राजस्थानी और पहाड़ी राजपूत शासक मुगल दरबार के सान्निध्य में रहते थे; इसलिए मुगलों के कला प्रेम से प्रभावित होकर राजपूतों का कला अनुराग भी तीव्रता से जागृत हुआ और मुगल दरबार की तर्ज़ पर चित्रकारों को प्रश्रय देकर उन्होंने भी अपनी चित्रशालाएँ स्थापित कीं। राजपूत शासक एक ओर जहाँ मुगल कला से प्रेरित हुए, वहीं अपनी पारम्परिक कलाओं और हिन्दू विषयों की ओर उनका ध्यान नए सिरे से अग्रसर हुआ।

कला वैभव के उस दौर में 17वीं से 19वीं शताब्दी तक हिमाचल के इस भू-भाग में तत्कालीन पहाड़ी शासकों के राजाश्रय में एक व्यापक कला- आंदोलन निकल चला था। उस काल की चित्रकला में मुगल और राजपूताना कला के गुण-ध र्म के साथ पहाड़ के प्राकृतिक सौंदर्य और पहाड़ी रजवाड़ों की रुचि और प्रवृत्ति को मिलाकर बहुत कुछ एक साथ है। हिमालय की लययुक्त पर्वतीय रेखाएँ, परम्परागत चटकीले रंग तथा लोक संस्कृति के अनेक विषयों और नैसर्गिक सौंदर्य को चित्रित करके इस पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने इतिहास के एक अलग मोड़ को दर्शाया है।

पहाड़ के अनेक राजाओं और सामंतों के प्रश्रय में विकसित हुई यह कला-शैली आज विश्व-भर में पहाड़ी लघुचित्र कला के नाम से प्रसिद्ध है। इस कला ने अपनी सुदीर्घ परम्परा में अनेक पीढ़ियों के चित्रकारों और कला-पारखियों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। आज देश-विदेश के प्रमुख कला-संग्रहालयों की अमूल्य निधियों में विभिन्न उप-शैलियों के पहाड़ी लघुचित्र शामिल हैं और हिमाचल के कला वैभव में इस चित्र-शैली का प्रमुख स्थान रहा है।

इस पुस्तक में मूर्धन्य कलाविद् साहित्यकार प्रो. रमेश कुंतल मेघ ने पहाड़ी

चित्रकला के सौंदर्यबोध का विश्लेषण करते हुए इस चित्रकला की बसोहली, गढ़वाल, गुलेर और काँगड़ा आदि कलमों का विवेचन किया है। उनका मानना है कि 'आगरा, दिल्ली और राजस्थान से प्रव्रज करके आए चितेरे पहाड़ी रियासतों के लोक चित्रकारों तथा भित्ति चितेरों से हिल-मिल गए थे। ये मुगल निज़ाम की तरह पूर्णतः राज्याश्रित नहीं थे। ये सुनार, रंगरेज, बुनकर, बढ़ई आदि पेशों से उभरे थे। ये न तो धर्म-दर्शन जानते थे और न ही बौद्धिक कलाशास्त्र। इनकी चित्रकारी बेहद मृदु-मंथर थी और नाजुक तथा महीन भी।' कला समीक्षक किशोरी लाल वैद्य ने इस कला विधा के विभिन्न रूपों और उपशैलियों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने पहाड़ी चित्रकला के विशाल और बहुविध विषय क्षेत्र का भी उल्लेख किया है।

प्रख्यात चित्रकार और कला इतिहासज्ञ विजय शर्मा ने पहाड़ी चित्रकला के नूरपुर, गुलेर और काँगड़ा जैसे प्रमुख चित्रकार-घरानों का शोधपूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि 'भूप से लसित कवि, कवि से लसित भूप' वाली दरबारी कहावत पहाड़ी चित्रकारों के संदर्भ में भी सटीक प्रतीत होती है। मगर केवल राजा ही कलाओं के पोषक नहीं थे बल्कि राज्य के वज़ीर, जागीरदार और धनिक भी कलाओं के गुणग्राहक थे और कलाओं के प्रति रुचि रखते थे।'

वास्तव में यह कला-आंदोलन के माहौल का ही परिणाम था कि जहाँ एक ओर लोक कलाकार और शिल्पी इन सृजनात्मक गतिविधियों से जुड़ गए थे, वहीं यह चित्रकला विषय वस्तु और उपयोग के स्तर पर राजदरबारों तक सीमित नहीं रह गई थी। सामंती परिसरों से निकलकर यह कला आम जन-जीवन में भी प्रसार पाने लगी थी। लघुचित्रों से लेकर भित्तिचित्रों तक और उससे भी आगे रूमाल, पंखे, बर्तन तथा पहनने के वस्त्रों आदि आम प्रयोग की वस्तुओं तक इस चित्रकला ने किसी भी रूप में विस्तार पा लिया था और इस तरह यह दरबारी कला से निकलकर सामाजिक कला की ओर अग्रसर हुई। इस कला के विशेषज्ञ डॉ. विश्वचंद्र ओहरी ने चम्बा रूमाल के उद्‌भव और विकास की जो कहानी 'चम्बा के रंग' शीर्षक लेख में दी है, यह इस कला के समाज में ~च जाने का ही प्रमाण देती है।

समकालीन भारतीय कला के प्रख्यात समीक्षक प्रयाग शुक्ल ने लिखा है कि–'अगर हिमाचल की पारम्परिक रूपंकन कलाओं ने भारतीय समकालीन कला को प्रभावित किया है, उसे ऊर्जा दी है और एक नयी चित्रकला की रचना में सहयोग दिया है तो यहाँ के जन-जीवन से भी कलाकारों ने बहुत कुछ ग्रहण किया है।' इस सिलसिले में वह अमृता शेरगिल, जगदीश स्वामीनाथन, रामकुमार और मनजीत बाबा आदि प्रमुख चित्रकारों का उल्लेख करते हुए हिमाचल के कला वैभव का समकालीन भारतीय कला के संदर्भ में जायजा ले रहे हैं। इस सिलसिले में दो प्रमुख दिशाएँ खुलती हैं; एक यह कि अनेक प्रमुख समकालीन चित्रकारों का शिमला में

जन्म होने या लम्बे समय तक यहाँ या प्रदेश के किसी भी सुरम्य स्थल पर रहने से हिमाचल के साथ एक खास लगाव भर रिश्ता बनता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे कलाकार भी हैं, जो हिमाचल के शांत-एकांत वातावरण और प्राकृतिक सौंदर्य के आकर्षण में यहाँ आकर बस गए और हिमाचल के कलापरिदृश्य के आकर्षक केन्द्र बनकर स्थापित हो गए।

स्वतंत्रता पूर्व जिन प्रतिष्ठित रचनाकारों ने शिमला में निवास किया उनमें विश्व प्रसिद्ध चित्रकार और अनन्य सुंदरी अमृता शेरगिल प्रमुख हैं। समरहिल रेलवे स्टेशन की निकट ढलान पर उनका *'स्टुडियो'* था और यह सुंदर कॉटेज आज भी मौजूद है। अमृता ने इसी स्टुडियो में *पहाड़ी पुरुष, पहाड़ी लोग, तीन पहाड़ी युवतियाँ, भारतीय माँ, दुल्हन का श्रृंगार* और *कथावाचक* जैसे अमर चित्र की रचना की थी। 1934 में जब अमृता पेरिस से भारत लौटीं तो वह निश्चय कर चुकी थी कि उसे भारत में रहकर ही चित्रकला के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण करना है। उसने स्वयं कहा है–'मुझे अपने मूल उद्देश्य का पता चल गया कि मुझे भारतीयों के जीवन का, खासकर गरीब भारतीयों का चित्रण करना है; उनके मौन समर्पण और बेइंतहा धीरज को कैनवास पर उतारना है। उनकी बदसूरती का सौंदर्य उभारना है और उनकी आँखों में भरे विषाद का जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा है, उसे हू-ब-हू चित्रों में रूपायित कर देना है।' कलाकार अमृता शेरगिल के जीवन पर इकबाल सिंह का अनूदित लेख इस पुस्तक में शामिल है।

जगदीश स्वामीनाथन (1928) और रामकुमार (1924) इन दोनों प्रख्यात चित्रकारों का जन्म शिमला में हुआ था और यहीं इनका बचपन भी बीता। ये दोनों चित्रकार साहित्य रचना भी करते रहे। रामकुमार एक अच्छे कहानीकार भी हैं और स्वामीनाथन ने कोटखाई के चमरौता गाँव वाले बागीचे के अनुभव से जो कविताएँ लिखी हैं वे वास्तव में हिमाचल की कविताएँ हैं। हमारे यहाँ हिन्दी और पहाड़ी में पहाड़ के अनुभव की जो रट बराबर सुनाई देती है, उसके सामने स्वामीनाथन की ये मात्र सात छोटी कविताएँ एक चुनौती की तरह हैं। जगदीश स्वामीनाथन के चित्रों में पेड़, पहाड़, चिड़िया और चट्टान के मोटिव प्रमुखता से आते हैं। इसी दौर में शिमला में जन्मे निर्मल वर्मा (1929) साहित्य के आकाश में उड़ान भरने के साथ अपने बड़े भाई रामकुमार और पक्के दोस्त स्वामीनाथन की कला से बराबर अंतरंगता बनाए रखते हैं। निर्मल वर्मा लिखते हैं कि–'स्वामी का सबसे बड़ा योगदान कला में भारतीय आत्मा के समकालीन प्रतिबिम्ब की तलाश करना था।... उन्होंने पहाड़ी लघुचित्रों से जो कुछ लिया वहाँ भी उनके मूल भावों का अनुकरण नहीं किया। वह लघुचित्रों के रंग, खास गंध, उड़ान और ऐन्द्रिकता ले लेते हैं, लेकिन उन्हें अपनी दृष्टि और शैली में ढाल लेते हैं। ...मुझे स्वामी के चित्रों में एक तरह की

काव्यात्मकता (लिरिसिज़्म) दिखाई देती है।' इसी तरह रामकुमार की कहानियों में शिमला में बिताए दिन उनकी मनोभूमि निर्मित करते हैं, ज़ाहिर है चित्रों में भी किसी स्तर पर शिमला के पहाड़ों का अनुभव ज़रूर रहा होगा।

निकोलाई रेरिख और सोभा सिंह ऐसे कलाकार हुए हैं, जो हिमाचल के नैसर्गिक सौंदर्य के आकर्षण में यहीं बस गए और आजीवन कला साधना करते रहे। विश्व के वितान में रेरिख के दो स्थान तारांकित हो सकते हैं– रूस की पुरानी राजधानी और सांस्कृतिक केन्द्र पीटर्सबर्ग, जो अब लेनिनग्राद है, दूसरा कुल्लू घाटी का 'नगर' नामक गाँव, जहाँ अब 'इंटरनेशनल रेरिख मेमोरियल ट्रस्ट' स्थापित है। रेरिख पीटर्सबर्ग से विश्व के आकाश में उठते हैं और कुल्लू घाटी में आकर बैठते हैं। हिमालय के ऊपर तना हुआ रेरिख का इन्द्रधनुष रूस और भारत को जोड़ता हुआ विश्व को कला का आलोक देता है। निकोलाई रेरिख ने अपने घटनापूर्ण जीवन के अंतिम बीस वर्ष कुल्लू घाटी में जिये; असंख्य महत्त्वपूर्ण चित्रों की रचना की, जिनमें हिमालय की विराटता और इसके बहुरंग दर्शाने वाली प्रख्यात 'हिमालय गाथा' सीरीज़ भी है। चित्रकार के साथ ही रेरिख कवि और मानवतावादी चिंतक भी थे। उन्होंने कुल्लू घाटी की अपनी साधना स्थली में अनेक पुस्तकें लिखीं, यहीं 'उरुस्वाति' अनुसंधान संस्थान स्थापित किया और अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त 'रेरिख पैक्ट' का विश्वव्यापी अभियान चलाकर दूसरे महायुद्ध के बाद विश्व को शांति का संदेश भी नगर के 'हाल्ज़ स्टेट' से ही देते रहे हैं–'कला समस्त मानवता को एक कर देगी। कला एक अविभाज्य है। कला सबके लिए है। कला को लोगों तक पहुँचाएँ, जहाँ इसका स्थान है।'

उधर 1947 के भारत-विभाजन के दौरान अपने सारे चित्र लाहौर में छोड़कर चले आए सरदार सोभा सिंह कांगड़ा घाटी के अंद्रेटा गाँव में बस गए और अंत तक वहीं कला साधना करते रहे। सिख गुरुओं और पंजाब की प्रेम गाथाओं जैसे अन्यान्य प्रमुख विषयों के चित्रण के साथ उन्होंने पहाड़ी जन-जीवन के भी कुछ विरल चित्र अपनी कलिका से रचे, जिनमें 'कांगड़ा दुल्हन' और 'गद्दन' शीर्षक चित्र आज भी अनेक घरों में टंगे दिखाई देते हैं। धौलाधार के आँचल में बसे अद्‌भुत प्राकृतिक सौंदर्य वाले अंद्रेटा गाँव के चयन का श्रेय नोराह रिचर्ड और सरदार सोभा सिंह को ही जाता है। इसके बाद उस गाँव में भवेश सान्याल, रामकुमार, परमजीत सिंह आदि कलाकारों ने भी अपने घर बनाए और यह हिमाचल के एक कलाग्राम के रूप में चर्चित हो गया। शिमला, कुल्लू और अंद्रेटा के अतिरिक्त डलहौज़ी, कसौली, चम्बा, लाहुल-स्पीति और किन्नौर जैसे स्थान देश-विदेश के कलाकारों के प्रिय स्थल रहे हैं। आज भी प्रदेश के ज़िला मुख्यालयों तथा अन्य प्रमुख स्थानों में कला-शिविरों और प्रदर्शनियों के आयोजन कला सम्बंधी हलचल बनाए रखते हैं।

हिमाचल प्रदेश के कला वैभव में यहाँ की प्राचीन कांस्य और प्रस्तर मूर्तियों का विशेष स्थान है। इस अमूल्य कला-सम्पदा के संदर्भ में हरमन गोएत्स का मानना है कि 'हिमालय के दर्रों में परिरक्षित भरमौर तथा छतराड़ी के मंदिर व मूर्तियाँ उत्तर गुप्तकालीन कला का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे नेपाल, ग्रेटर इंडिया तथा पूर्वी तुर्कीस्तान, चीन व जापान की कला का प्रारंभिक स्रोत माना जाता है।... ये मंदिर तथा मूर्तियाँ एशिया तथा विश्वकला इतिहास के महान युगों की कुंजियाँ हैं।'

कलाविद् सुरेंद्र मोहन सेठी ने प्रदेश की मूर्तिकला का मूल्यांकन किया है और किशोरीलाल वैद्य ने मंदिर वास्तुशिल्प पर प्रकाश डाला है, जबकि डॉ. लक्ष्मण सिंह ठाकुर ने जनजातीय क्षेत्रों के कला वैभव को प्रकाश में लाया है। लोक देवताओं के रथों और मूर्तियों पर डॉ. कमल के. प्यासा का विवरण है और मृण्मूर्तियों के प्रतीक विधान पर डॉ. दिलवर शर्मा का लेख है। आभूषणों पर केन्द्रित कमल प्रसाद शर्मा का प्रलेखन परक विवरण है और पारम्परिक वस्त्रकला को लेकर डॉ. पंकज ललित का शोध परक लेख भी रोचक है।

'हिमाचल का कला वैभव' विषय पर केन्द्रित एक राष्ट्रीय सेमिनार अकादमी की ओर से मई, 2012 में शिमला में आयोजित किया गया था, जिसके लिए केन्द्रीय ललित कला अकादमी से अनुदान लिया गया था। हिन्दी माध्यम में कला समीक्षा के अभाव को देखते हुए इस सेमिनार में हिन्दी कला-समीक्षकों को विशेष तौर से विषय देकर आमंत्रित किया गया था, ताकि हिमाचल की विभिन्न कलाओं का मूल्यांकन और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवरण हिन्दी पाठकों को उपलब्ध हो सके। उसी सेमिनार में प्रस्तुत या उस बहाने से तैयार हुई सामग्री इस पुस्तक में प्रकाशित की गई है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी पूरक सामग्री पत्रिकाओं आदि से भी ली गई है, जो विषय की दृष्टि से इसमें उचित बैठती है। इस पुस्तक में हिमाचल की चित्रकला, मूर्तिकला, मंदिर-स्थापत्य तथा वस्त्राभूषण आदि कलाओं पर सुपरिचित समीक्षकों के मूल्यांकनपरक लेख हैं। प्रदेश की कला-सम्पदा पर एकाग्र यह पुस्तक कलाप्रेमी हिन्दी पाठकों को पसंद आएगी।

अनुक्रम

1. पहाड़ी चित्रकला का सौंदर्यबोध : रमेश कुंतल मेघ 17
2. हिमाचल की पहाड़ी चित्रकला : किशोरी लाल वैद्य 26
3. काँगड़ा घाटी के चित्रकारों के घराने : विजय शर्मा 40
4. चम्बा के रंग : डॉ. विश्वचंद्र ओहरी 51

5. हिमाचल का कला वैभव और समकालीन भारतीय कला : प्रयाग शुक्ल 56
6. निकोलाई रेरिख : द्रष्टा एवं चित्रकार : राय आनन्द कृष्ण 63
7. रेरिख के चित्रों में हिमालय की महागाथा : आशुतोष रमण 74
8. कलाकार अमृता शेरगिल : इकबाल सिंह 78
9. कलाकार स्वामीनाथन : निर्मल वर्मा 88
10. धौलाधार के आँगन में बसा कलाकार : सुदेश कुमार 90

11. विश्व कला के महान युगों की धरोहर : हरमन गोएत्स 99
12. हिमाचल का मंदिर वास्तुशिल्प : किशोरी लाल वैद्य 102
13. हिमाचल प्रदेश की प्रस्तर प्रतिमाएँ : सुरेंद्र मोहन सेठी 118
14. मृण्मूर्तियों का प्रतीक विधान : डॉ. दिलवर शर्मा 129
15. जनजातीय क्षेत्रों का कला वैभव : डॉ. लक्ष्मण सिंह ठाकुर 133
16. लोक देवताओं के रथ एवं मूर्तियाँ : डॉ. कमल के. प्यासा 137

17. हिमाचली आभूषणों का कला-शिल्प : कमल प्रसाद शर्मा 143
18. हिमाचल की पारम्परिक वस्त्र कला : डॉ. पंकज ललित 164

हिमाचल का कला वैभव

पहाड़ी चित्रकला का सौंदर्यबोध

रमेश कुंतल मेघ

निष्पादनकारी (पर्फार्मिंग) कलाएँ त्वरित प्रवाही अर्थात् ऐककालिक तथा अनुक्रमिक होती हैं। वे ज्यों-ज्यों निष्पादित होती चलती हैं, त्यों-त्यों अंतर्धान होती जाती हैं। उनमें एक ही संरचना की पुनरावृत्ति होती रहती है तथा कौशल और अभ्यास से उनका पुनर्नवीकरण होता रहता है। वे अपने *'पाठ'* में प्रायः स्थायी होती हैं, जैसे–नृत्य और उसकी नृत्यलिपि (कोरियोग्राफी), नाटक और नाट्य (थियेटर), गायकी और संगीत (राग), फिल्म और स्क्रिप्ट (कथापट्टी) आदि। ये स्थिर संरचना (स्ट्रक्चर) परक होती हैं। फलतः 'क्लासिकी' होने का आगाज़ देती हैं।

तथापि चित्र, साहित्य, नृत्य-नाट्य और शिल्प जेसी दृश्यकलाएँ सहक्रमिक होकर भी बहुकालिकता की प्रतीति कराती हैं। एक ही रामायण या कृष्ण भागवत या गीतगोविंद नाना माध्यमों, विविध शैलियों, विविध कालों, विभिन्न चित्रकारों, विलक्षण आकृतियों एवं आकारों (पैटर्नो) में प्रस्तुत किया जाता है। अतः उनकी ऐस्थेटिक्षा कला तथा सौंदर्यबोधशास्त्र की जुगलबंदी करती है। उनकी विधा (यॉनर) तथा संरूप (आइकन) में क्षणे-क्षणे रूपांतरण होता रहता है। अतः वे *'रमणीयरूपा'* होती हैं। संप्रति हमारा लक्ष्य चित्रकला–पहाड़ी चित्रकला की ऐस्थेटिक्षा यानी सौंदर्यबोध है।

इसी क्रम में पहाड़ी चित्रकला (1700-1900) का बहुविध *'भौगोलिक ऐटलस'* है, जिसमें जम्मू-काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल के शैलीमार्ग आते हैं। तथापि हम हिमाचल के चम्बा, कुल्लू-मनाली, काँगड़ा आदि क्षेत्रों के साथ बसोहली एवं गुलेर को भी शामिल कर सकते हैं (यद्यपि यही विकल्प है)।

इस क्षेत्र की एक अद्‌भुत खूबी यह है कि पूर्ववर्ती नेपाल तथा उत्तर दिशा वाले नालंदा-विक्रमशिला के बिहार-क्षेत्रों के बरक्स यहाँ कांस्य तथा तांबे की विशालकाय प्रतिमाएँ भी ढाली गईं, जो निश्चित तौर पर ऊँची पाषाण प्रतिमाओं के

समानांतर हैं। इनमें पहाड़ी वेशभूषा-लांछन-अभिप्राय लगभग गौण हैं। यह तथ्य लाल-रेखा से रेखांकित किया जाए। ये शिल्पशास्त्र के प्रभाव क्षेत्र में आ जाती हैं। इनमें लघु-आकृति वाली चोलों (दक्षिण भारत) की लघुतर कांस्यमूर्तियों जैसी सुकुमारता तथा लावण्य तो नहीं है, तथापि ये भव्य एवं उदात्त हैं। ये पहाड़ी चित्रकला तथा प्रतिमाकला की जुगलबंदी अर्थात् दो कलाओं की सहभागिता को, अर्थात् एकाधिक कलाओं को एक ही व्यास रेखा (पैरामीटर) पर अधिष्ठित करती हैं। यहीं से तो सौंदर्यबोध (ऐस्थेटिक्षा) का उन्मीलन होता है, जब एक से अधिक कलाएँ एक ही व्यास रेखा पर समन्वित हो जाती हैं। विशाल मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित होती हैं, जबकि लघु मूर्तियाँ देवरथ के गोपुरम् या गर्भगृह में प्रवेश करती/कराती हैं। अर्चना दोनों की ही होती है। अतः ये दिव्य एवं धार्मिक भी हैं। तुलना में पहाड़ी चित्रफलक इहलौकिक है, यह भी ध्यातव्य होना चाहिए। अतः ये दिव्य सौंदर्यबोध (डिवाइन ऐस्थेटिक्षा) के दायरे से इतर हैं। चित्र एवं शिल्प के बीच यह द्वैत है।

पहाड़ी चित्रकला पर डब्लू. जी. आर्चर, एम.एस. रंधावा, एन.सी. मेहता, कार्ल खंडालवाला, वी.सी. ओहरी, बी.एन. गोस्वामी, विजय शर्मा द्वारा उत्तम अनुशीलन किए गए हैं।

पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न कलमों की विशिष्टताएँ तथा खूबियाँ निखार कर उनकी शैलियाँ तथा क्षेत्र तो निर्धारित किये जा सकते हैं, लेकिन क्षेत्रों एवं कलमों के अंतर्गत व्यक्ति-चितेरों की कूचियों का जादू अर्थात् प्रायः उनका नाम नहीं पता लग सका है। इस क्षेत्र में भी विजय शर्मा ने पहल की है। शिल्प के क्षेत्र में रमानाथ मिश्र ने मूर्तियों और मन्दिरों में शिल्पी-घरानों के मुहरों की छाप की शिनाख्त की है। 'एक चश्म' चेहरों के अंकन की लम्बी परम्परा के कारण भी यह तकरीबन मुश्किल रहा तथापि एक दूजी परम्परा इन चितेरों के वर्ग एवं समूह, परिवेश एवं पेशों को लक्षित कर देती है। ये बहुतेरे चितेरे आगरा, दिल्ली और राजस्थान (जयपुर, मेवाड़, उदयपुर) से प्रव्रजन करके आए थे और पहाड़ी रियासतों के लोकचित्रकारों तथा भित्ति-चितेरों से हिल-मिल गए थे। मसलन बसोहली में राजपूताना तथा मुगल प्रभावों का मेल, गढ़वाल में मुगल तथा डोगरी प्रभावों का मिश्रण प्रकट होता है। इसलिए दरबारों-मन्दिरों-शहरों से लेकर हवेलियों-किलों-महलों तक इनके क्षेत्र रहे।

ये मुग़ल-निज़ाम की तरह पूर्णतः राज्याश्रित नहीं थे। ये सुनार, रंगरेज, रंगराज, बुनकर, बढ़ई आदि पेशों से उभरे थे। ये न तो धर्म-दर्शन जानते थे और न ही बौद्धिक कलाशास्त्र। इनकी चित्रकारी बेहद मृदु-मंथर थी और नाज़ुक तथा महीन भी। मीनाकारी, रंगाई-बुनाई, टिपाई-टंकाई की तरह। इनके फलक बड़े नहीं

थे। ये छोटी दृष्टि पंथियों के प्रेमी रहे, इनकी मानवाकृतियाँ 'एक चश्म' (कभी-कभार डेढ़ चश्म और बिरली दो चश्म) होती थीं। 'मिनियेचर' माध्यम तथा कौशल की ये पाबंदियाँ थीं।

यूरोप में भी पंद्रहवीं से सोलहवीं शती के मध्यार्ध तक इटैलियन रिनैसां के 'क्वाट्रोसेंटो' चितेरे भी सुनार, राज-मिस्त्री, बढ़ई समूहों से उभरे थे। वे भी दार्शनिक तथा बुद्धिजीवी नहीं थे। उनके बाद के चरण में ही लियोनार्दो-द-विंची, राफेल माइकेल एंजिलों का अभ्युदय हुआ था। पहाड़ी चित्रकला के रिनैंसा में भी पंडित सेउ, देवीदास, मोलाराम जैसे उस्ताद चित्रकार बाद के चरण में उभरे। उनके निर्देशन तथा प्रेरणा से ही आज हम मानकू, खुशाल, गौधू, फत्तू, परखू, बसिया जैसे परम्पराव्रती पहाड़ी चित्रकारों की कतार की जान-पहचान करते हैं। अतः इनकी परम्परा में अजंता-बाघ या जैन-आयागपट्ट शामिल नहीं थे। इनका भू-क्षेत्र पंचसितारा था : बसोहली-गुलेर-गढ़वाल-कांगड़ा-कुल्लू। इसमें ही नूरपुर, मंडी, चम्बा तथा (उपेक्षित) बिलासपुर की कलमें भी सराबोर थीं। मूलतः पहाड़ी चित्रकलाओं में मुग़ल और राजपूताना की (कई) कलमों की परंपरा पुनर्जीवित हो उठी—लोकधारा में कई मौलिकताएँ शामिल करके। धर्म एवं दर्शन के संपर्क में पहाड़ी चित्रकला में भी आभिजात्य एवं धार्मिक आयाम खुलते गए। उनके कथासंदर्भ (थीम) भी लौकिक-इहलौकिक-पारिवारिक होते गए।

पूर्वलिखित पहाड़ी चित्रकला की भौगोलिक पंचनक्षत्रमाला एटलस में एस्थेटिक्षा या सौंदर्यबोधशास्त्र का एक त्रिकोण जगमगाता है, जिसके वितान में राजपूत-मुगल लघुचित्रकारी है। त्रिकोण के शिखर में सामंतीय आभिजात्य तथा लौकिक-धार्मिक उत्सव-प्रियता है। बायें पार्श्व में नारीकेंद्रमय मानवतावाद है जिसे (मोली एम्मा एटकेल के अनुसार) मर्दवादी मंजरकशी से देखा गया है तथा जो पर्दानशीनी में नारीत्व सुषमा से झिलमिल है तथा दायें पार्श्व में क्लासिकी परम्पराएँ हैं।

(1) **क्लासिकी परम्परा** की पृष्ठ-प्रस्तुति में राजपूत कलमोंवाली कथाओं, वृत्तांतों-लीलाओं पर धारावाहिक चित्रावलियाँ हैं। मुगल सम्राट अकबर (सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध) ने इन्हें फिर शुरू कराया। फिर यह रीतिधारा पहाड़ी चित्रशैलियों में परवान चढ़ी। अकबर के दरबार में मध्य एशियाई और ईरान की हेरात कलम के उस्ताद अब्दुस्समद शीरींकलम तथा मीर सैयद अली मौजूद थे। 'कारखानों' में चित्रकारों की जो मंडलियाँ थीं, उनमें केशो, लाल, मुकुंद, मिस्मीन, माधो, जगन, महेश, खेमकरन, तारा, साँवला, हरबंस, राम आदि आन जुटे थे। सो 'हम्ज़ा' के किस्से बारह जिल्दों में तैयार हुए, *रज़्मनामा* (महाभारत) और *रामायण* चित्रांकित

किए गए, *नलदमन* (नल-दम्यंती) *कालीला दमन* (पंचतंत्र), *अयार दानिश* (पंचतंत्र का द्वितीय अनुवाद) भी चित्रांकित हुए।

इसी परिपाटी को बेटे जहाँगीर (1605-1627) ने चालू रखा। अब्दुल हसन ईरानी और बिशनदास दो बड़े उस्ताद थे। चित्रफलकों में बारीकी और तैयारी (फिनिश) ने बुलंदी हासिल की। चित्रों में बेहद 'रियाज़, महीनकारी, रंगों की खूबी, तथा शानो-शौकत एवं अंग-प्रत्यंगों की लिखाई (रूप-रेखा), विशेषतः हस्तमुद्राओं में बड़ी सफाई और कलम में कहीं चौंकाऊ कमज़ोरी नहीं रही।' तदापि दरबारी अदब-कायदों की जकड़बंदी का रस्मी बंधान खिंचता गया।

इसी क्लासिक प्रवाह की अग्रप्रस्तुति के घेरों में पहाड़ी कलमों में भी कथा-वृत्तांत-लीलाएँ अपना इंद्रधनुषी वितान तानती हैं। रामायण-महाभारत से लेकर भागवत, गीतगोबिंद, पुराण, ऐतिहासिक गाथाएँ और फिर केशव, मतिराम, बिहारी, रसमंजरी; फिर लोक-कथाओं-निजघरों में रूपमती-बाजबहादुर, नल-दम्यंती के संग-संग भावविभोरकारिणी रागमाला, नायिका-भेद, बारामासा और फिर अनेकानेक कृष्णलीलाएँ, रामकथा-कांड शामिल होते गए। यही पहाड़ी चित्रकला का मनस्सौंदर्यलोक है तथा रचना-स्रोत भी।

(2) **नारी केंद्रित मानवतावाद** के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि प्रायः अधिकांश फलकों में रमणीय रमणी तथा आलंकारिक सुष्माशोभा की ललित मैत्री उसी तरह से हुई जैसी कि कालिदास ने नारी एवं प्रकृति की कांत मैत्री की है। सभी कलमों (शैलियों) में कुछ खास स्थानीय रंग (भी) तथा रेखाएँ समान-समानांतर हैं; जैसे—सेब जैसे गोल छोटे स्तन, शुकनासिका, छोटे पतले अधर, गोल फुल्ल गाल, कदली-जंघा, बरुशफूलों जैसे लिबास और शिशु-देवदार जैसी टाँगें। वस्त्राभूषणों तथा पहनावों में राजस्थानी एवं हिमाचली डिज़ाइनों का मिश्रण है। हाँ, अष्टांगवती अष्टनायिकाएँ ही धुरी हैं। राधा का महाभाव-परक आदर्श शिरोधार्य है, लेकिन दुर्गा तथा पार्वती भी अपने-अपने प्रसंगों के संग मौजूद हैं। सभी दिशाओं में नारी की शोभा, सुकुमारता तथा शक्ति का त्रिक् परिव्याप्त है। पीतांबर तथा मोर मुकुटधारी कृष्ण कन्हैया धीरललित और धीरोदात्त नायक हैं।

प्रायः सभी कलमों में **रेखा** बेहद सुकुमारता से मंद-मंद तिरती प्रवाहित होती है, किन्तु उसमें कोई हिचक या अवरोध नहीं है। उन विविध रेखाओं में गद्दियों जैसी झूलती चाल और बकरवालों की बाँसुरी की मद्धिम रागिनी जैसा संगीत समानुभूति पैदा करता है। रेखाओं में जादुई यथार्थ के आगाज़ में जंगलों को वृक्षों के एक छल्ले में पुहकर या वृक्षों को खुद भी गोलाकार-अंडाकार अभिकल्पों में रचकर अंकित किया गया है। यह पहाड़ी चितेरों का कौशल है। वे ज़्यादातर सुनियारे (सुनार) थे। वे अपने-अपने संघों, घरानों तथा सूत्रधारों से सम्बद्ध थे, जिससे शैलियाँ

निर्धारित हो सकीं। तथापि दो कलमों का वर्चस्व रहा—बसोहली तथा काँगड़ा। दोनों में ही *'मोहन'* तथा *'मादन'* की सौंदर्यानुभूति है।

अलबेले रंगों का चित्रकोश तो और भी चमत्कारी है। रंगों के नाम भी खुद-ब-खुद बोलते हैं—बदामी, काजलकारी, आसमानी, ऊदा, गौरी-छेरी, सब्ज़-सोज (हरा), सोजा पिस्तकी, अम्बरी, तोतापंखी, मूंगन, तरबूजी, धुमरा, फाख़्ताई, सुना (सोनाई), नारंगी, हिरौंजी, गुलाबी, सिंदूरी, सुरखी (गेरू), संदिल (चंदनवर्णी), अबरज (सीपवर्णी), रूपा (चाँदीवर्णी), सुफेदा (शंखचूर्णी), वसंती (बसमती, अमलतासिया)। उक्त रंगों से अशुद्धियाँ दूर करके उन्हें चमकीला-स्वच्छ अर्थात् 'हल्का' कर दिया जाता था। इनके नामकरण के आधार थे—सादृश्य (मूंगिया, बैंगनी) अथवा मूलसामग्री (गेरूआ, सिंदूरी, चंपई, अनारी, कत्थई, मजीरी, किशमिशी) एवं स्थान विशेष : लाहौरी, उन्नावी, मुलतानी।

(3) सामंतीय आभिजात्य तथा लोक-धार्मिक पटल : यह सर्वत्र अंतर्विरोधों के साथ झिलमिलाता है, विशेषतया रंगमहलों तथा अन्तःपुर में वेशभूषाओं तथा गहनों में; संगीत-महफिलों, शृंगार-प्रसाधनों या क्रीड़ा-विलासों में। सर्वोपरि तो लोकोत्सवों में।

कार्ल खंडालवाला ने तीन आभिजात्य केन्द्रों को गिनाया ('पहाड़ी मिनियेचर पेंटिंग' बाम्बे, 1958) है—

(क) **बसोहली कलम :** मुख्यतः कृपालपाल (1678-1694) के शासन में फिर अमृतपाल (1757-1776) के काल में इसकी संवृद्धि हुई।

(ख) **काँगड़ा कलम :** मुख्यतः राजा संसारचंद (1775-1823) के शासन काल में। इसी अवधि में बाद में टीहरा सुजानपुर में यह कला और कुसुमित हुई। (इसका उद्गम सम्भवतः गुलेर में हुआ।)

(ग) **जम्मू कलम :** राजा रणजीत देव (1735-1781) तथा उसके बेटे राजा बलवंत सिंह के काल में।

अतएव रूपप्रद (फिगरेटिव) चित्रकला में एक ओर रेखाओं एवं रंगों ने संगीतात्मक मूल्यों का तथा दूसरी ओर पुनः प्रस्तुत्यात्मक कलाओं में प्रकृति के दिक्-भराव, प्रकाश छाया, गति-भार, बनावटवाले मूल्यों का एवं जीवन तथा चिंतन के धार्मिक-सामाजिक-मनोवैज्ञानिक-वैचारिक मूल्यों का पल्लवन हुआ। शनैः-शनैः मानवीय अनुभव के साहित्यिक कथाचक्रचिह्न एवं नाटकीय ऐतिहासिक परिवेश भी जुड़ते चले गए। एक पाणिवृत (पेनोरमा) की हथेली अपनी सारी सामुद्रिक रेखाओं के साथ उत्कीर्ण हो उठी।

पहाड़ी कलमों की ऐस्थेटिक्षा के संरूप-अंतर्वस्तु के विधान में माध्यम,

कौशल, तकनीक, थीम आदि ने उनके सांस्कृतिक अभिकल्प (कल्चरल पैटर्न) के ताने-बाने बुन डाले। हम इसके फलक का एक चतुरंग बनाते हैं–टिपाई, लिखाई, खुलाई तथा घोटाई। (ये *यशोधर* के *षडंग* तथा *चित्रसूत्रम्* के *अष्टांग* से भिन्न हैं।)

श्रीगणेश में गत्ते पर 'वसलीज' (त्वगाने) से शुरुआत होती है। फिर कई पट्टियों में 'अफ़शां' (सोने का छिड़काव) द्वारा 'नक्काशी' की जाती है। फिर 'खुशखत' या सुलिपि बनाई जाती है। गत्ते आयताकार (रेक्टेंगल) होते हैं। यदा-कदा वे गोलाकार, चतुर्भुज तथा दीर्घ अण्डाकार (ईलिप्स) भी होते हैं।

इस तैयारी के बाद 'टिपाई' की जाती है। 'लिखाई' में डौली अपनाई जाती है तथा रंगों की पर्तें लगाकर 'गदकारी' होती है। 'खुलाई' के अंतर्गत रूपरेखा से 'सरहद-बंदी' होती है। उक्त तीन चरणों के निर्माण के बाद अंतिम ललित-सौंदर्य मोहक चौथा प्रकार्य 'घोटाई' का होता है। इसमें *'साया-उजाला'* किया जाता है; *'साया-सुषमा'* द्वारा सौंदर्यवर्धक रंगों का समायोजन होता है; *'मोती-महावर'* हास, झीने वस्त्र, सोलह सिंगार, अलंकार, महावर, मेंहदी आदि रचे जाते हैं; और *'झीना-ओढ़ाना'* करके लघुचित्र या *फलक* मुकम्मिल हो जाता है। झीना-ओढ़ाना में ज़्यादातर छींट या सलमे-सितारेवाले घाघरे, कसी-चढ़ी चोली, झीनी पारदर्शी चुनरी तथा पहाड़ी इलाके के पेशबाज या लम्बे घेरावदार सुथने (सलवारनुमा) प्रमुख हैं। इसी तरह अतिरिक्त *'अंग-महावर'* के अंतर्गत काले-चमकीले लहरीले-अलकझूले केश, मेंहदी लगे हाथ, अलक्तरंजित पग नारी शोभा के विलक्षण वर्णिका-बिंदु हैं। यही तो पहाड़ी-चित्रकला का *'नारीत्ववाद'* (फेमिनिज़्म) है। इस तरह से हमने पहाड़ी ऐस्थेटिक्सायन उर्फ सौंदर्यबोधशास्त्र का एक सम्पूर्ण *पारिभाषिक शब्दकोश* भी पेश कर दिया है।

यही ध्यातव्य है कि प्रायः सभी फलकों में शास्त्रीय अनुपात-विधान (रेशियो-प्रोपोर्शंस) तथा परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) की अनुपालना कम से कम हुई है। भू-चित्रों (लैंडस्केप) में अक्सर या तो आकाश कटा-छँटा है, या फिर अनुभावों के मुताबिक नीले, लाल, नारंगी, बैंगनी काले रंगों में उभारा गया है।

पहाड़ी चित्रकला का भौगोलिक-ऐतिहासिक एटलस बसोहली से काँगड़ा तक का है।

1. श्रीगणेश बसोहली से : इसमें ओज एवं माधुर्य का सामंजस्य है। सीधी रेखाएँ तथा प्रगाढ़ रंग-योजना है, जिसमें गति एवं प्रवाह की समानुभूति (इम्पैथी) होती है। भू-चित्रों में विद्युत एक अभिप्राय है। वर्षा-चित्रण के लिए श्वेत बूंदों तथा तिरछी रेखाओं से अभिव्यंजना हुई है। पशु-आकृतियाँ भी अनुभव-वर्धक हैं। स्त्रियों के घाघरे तथा पुरुषों की पीछे झुकी पगड़ी पहचान बनाती है। दरबार-चक्र में वैभव

तथा ऐश्वर्य है। नारी छवियाँ अगली कलमों की सूत्रधारिणी हैं—बड़ी-बड़ी आँखें, लम्बी नाक, झुकी हुई ठोढ़ी (गोपाल मधुकर चतुर्वेदी से साभार)। बसोहली में राजा संग्राम पाल (1835-73) के समय में धर्म और पुराण प्रभावी हो गए। *'रसमंजरी'*, *'गीतगोविंद'*, *'भागवत'* से भी चित्रांकन हुए। वैष्णव तथा शैव, आभिजात्य तथा लोक का समन्वय अगली दिशाओं को निर्देश देता है। इस कलम में देवीदास का वर्चस्व रहा है।

2. गढ़वाल : शुभारंभ तो चित्रकार मोलाराम से है। जब दाराशिकोह के पुत्र शहज़ादा सुलेमान शिकोह ने यहाँ के दरबार में शरण ली तो उसके साथ चित्रकार बनारसीदास के बेटे श्यामदास भी आए। वे यहीं बस गए। उनकी पाँचवीं पीढ़ी में उस्ताद तथा कविराज मोलाराम का जन्म हुआ, जो श्रीनगर (गढ़वाल) के दरबार की शान-आन थे (1743-1833)।

'काव्येतिहास' इन चित्रों के स्रोत हैं। नारी के शारीरिक सौंदर्य के अंकन में पारदर्शी तथा मांसल देह प्रमुख लक्षण हैं। नायक-नायिकाओं के शरीर आभूषणों से सजे हैं। चित्रकारी में गहनों-आभूषणों-रत्नों आदि का गहराई से सूक्ष्म निरीक्षण किया गया प्रतीत होता है। अथवा कुछ चित्रकार सुनियारे भी रहे होंगे। झिलमिल पारदर्शी घाघरे तथा चोली से सजी नायिकाएँ देह को छुपाती-दिखाती हैं।

भू-चित्रों में नर-नारायण पर्वत-द्वय से घिरे श्रीनगर के राजमहल का अंकन भी इसकी पहचान है। इसी तरह अलकनन्दा नदी भी अंकित हुई है। स्त्रियों के ललाट पर चंदन चित्रफलक का चक्रचिह्न है। वास्तव में गढ़वाल-कलम में सौंदर्य की रेखाएँ मानों ऐंद्रिविकता में उन्मादिनी हो जाती हैं।

3. गुलेर : कांगड़ा कलम की पूर्वपीठिका गुलेर है। इससे ही पहाड़ी चित्रकला की अस्मिता की पहचान होती है। इस कलम का सूत्रपात राजा दिलीप सिंह (1695-1730) के समय में हुआ और परिणति राजा संसारचंद के समय में हुई। इस कला में भी नारी-शोभा, प्रकृति तथा प्रेम को आधार बनाया गया है। नारी-आकृति में कोमलता तथा उन्मुक्त लम्बी काया की प्रमुखता है। वर्णिका-भंग परिपाकी है। देह बिम्ब में कोमलता तथा लम्बाई नये अनुपात इंगित करती है। नारी-मुखमंडल प्रायः गोल है। आँखें कमल पंखुरी जैसी, भौहें धनुष जैसी, ओठों पर मंद मुस्कान तथा उँगलियाँ लम्बी एवं पतली कनक-छड़ी जैसी हैं। यह रूप-अभिकल्प परवर्ती काँगड़ा-कलम में चतुर चितेरों ने परवान चढ़ाया।

एक बात और; गुलेर-कलम महाराजा गोवर्धन चंद एवं प्रकाश सिंह के काल में पूरे जोबन को प्राप्त हुई। उस अवधि में राजा-रानियों के चित्र भी बनने लगे। दूसरी बात, कि गुलेर में हिमालय की प्राकृतिक सुन्दरता ने फलकों के मानो पंख खोलकर उड़ा दिए। रंग चटकीले न होकर नमनीय हैं। आकाश में लाल तथा

नारंगी रंगों की लहरें हैं। अग्र तथा पृष्ठ की भूमियों में झरने, खिलखिलाते रंगबिरंगे फूल, बादल-बिजली, सारस और बगुले, कोयल-पपीहे आदि मौजूद हैं। प्रकृति अपनी पूरी नैसर्गिकता के साथ भू-चित्र को जीवंत कर रही है।

इस तरह गुलेर ने मानवीय, अवतारी तथा प्राकृतिक आयामों के त्रित्व की समरसता द्वारा 'चित्र-रमणी' का रूपक अनावृत्त किया है, जिसकी चूनर कांगड़ा, चम्बा तथा बसोहली तक फहराई।

4. काँगड़ा : इस कलम पर आर्चर, रंधावा, खंडालवाला, गोस्वामी के उपरांत सर्वाधिक एवं सर्वोत्तम कार्य विजय शर्मा ने किया है। अतः अब यह उनकी ज़िम्मेदारी है कि वे नैनसुख, खुशाला, राँझा, गौधू, फत्तू, पदमू, परखू, गुलाबू, निक्का, कामा जैसे कारीगर–श्रमिक वर्ग के चतुर चितेरों पर भी ध्यान दें। उन्होंने ओहरी की परंपरा में चित्रांकन-परंपरा एवं चित्रांकन-विधान पर भी अनुपम दिग्दर्शन किया है।

18वीं-19वीं शती में गुलेर के राजा गोवर्धनचंद तथा काँगड़ा के राजा संसारचंद (1788) के काल में यह कलम रमणीयरूप के रिनैसाँ तक परवान चढ़ी और सुकुमारता तथा संवेदना इस पर न्यौछावर हो गईं।

कालिदास ने प्रकृति एवं नारी की जो कान्त मैत्री कराई थी, वह काँगड़ा कलम में पुनर्नवा हो गई। काँगड़ा घाटी, उसकी धौलाधार पर्वत शृंखला के इस वार भोलियों का काँगड़ा तथा उस पार गोरियों का चम्बा गतिमान हो उठे। झरने कल-कल करने लगे, मेघमालाएँ घिर आईं, विद्युत् के कोड़े दमक उठे, मेघमालाओं के बीच से बक पाँत मंथर-मंथर उड़ चली, चकोर और पपीहे, सारस और मोर कूक उठे, सिंह और मृग एक साथ आ जुटे। यह है काँगड़ा कलम का समग्र भू-चित्र (लैंडस्केप)। कलागुरु आनंद के. कुमारस्वामी ने इसे चीनी चित्रकला के भू-चित्रों के बरक्स तथा रू-ब-रू ला दिया है।

इसी पूरकता में वैष्णव उज्ज्वल-रस तथा वात्स्यायनीय शृंगार-रस की जुगलबंदी हो रही है–राधाकृष्ण-सखियों-दूतियों द्वारा और नायिकाओं-अष्टनायिकाओं-अभिसारिकाओं द्वारा। अनुषंग में वे कथानकरूढ़ियाँ और कवि-समय भी पुह दिये गए हैं, जो शुंगों-कुषाणों की यक्षिणी-मूर्तियों में मूलाधार थे। अतः आभिजात्य विलास और जनजीवन की लोकचर्या के अंतर्विरोध भी आमने-सामने उपस्थित हैं।

ये फलक वैष्णव चक्रचिह्नों से झिलमिला रहा है। कृष्ण-राधा, उनके साथ लीलाएँ, बाँसुरी और धेनुएँ, राग-रागिनियाँ, फिर सखियों से आगे नायिकाएँ। समूचे फलक गतिमय (डायनेमिक) हो उठते हैं–लुकाछिपी, दौड़-धूप, आँख-मिचौली, नृत्य-नाट्य से। इनकी नींव में आधार हैं–भागवत पुराण, गीतगोविंद, बिहारी सतसई, रसिकप्रिया आदि। इनमें योग और भोग का, सुकुमारता और सक्रियता का

चमत्कारिक समतोलन (साइनाएस्थेसिस) संलक्षित है।

आकृतियाँ रेखाओं और रंगों के समायोजन से परिष्कृत हैं : तालयुक्त रेखाएँ तथा सरगम जैसे रंग। कोमलता तथा लयात्मकता ने नारी देह की संरचना तथा संघटना की है। इनमें रंगों की शोभा तथा दीप्ति और द्रुति है, वस्त्राभूषणों की झंकार है। देह के प्रतिमान आभिजात्य तथा उच्चवर्गीय हैं--पतली कमर, लंबी आँखें, कोमल-पतली अंगुलियाँ, लंबी शुकनासिका, गोल ठोढ़ी, पुष्ट उभरे उरोज, छरहरी काया। आज नारी-सशक्तिकरण की दृष्टि से इन पर अनेक प्रश्नचिह्न लगाए जा सकते हैं। किंतु हम इतिहास के काल को पीछे नहीं घुमा सकते।

इस भांति लावण्य-योजना और वर्णिका भंग प्रकृति को, नारी की प्राकृतिक शक्ति एवं वृत्ति को और चित्राधारित रिनैसां की आकृति को साक्षात् किया गया है। मध्यकालीन चित्रसूत्र और चित्रलोक पूर्ण विराम ले लेते हैं। चित्रफलक एक समग्र 'कल्चरल पैटर्न' हो जाते हैं।

इसके उपरांत आधुनिक काल में कालीघाट (बंगाल) की लोकतूलिका में आधुनिकता का आगाज़ होता है। समानांतर एक बृहद् जागरण का प्रकाश फैलता है। राजा रवि वर्मा, अवनींद्र नाथ ठाकुर, अमृता शेरगिल के साथ-साथ आनंद के. कुमारस्वामी, ई.वी. हैनवेल के शुभागमन से शुभारंभ होता है।

हिमाचल की पहाड़ी चित्रकला

किशोरी लाल वैद्य

हिमाचल का कला परिदृश्य एक विराट स्वरूप लिए हुए है। चित्रकला के क्षेत्र में इस प्रदेश ने पहाड़ी चित्रकला के माध्यम से विश्व स्तर पर कीर्ति अर्जित की है। विश्व के प्रमुख देशों में जहाँ कला-संग्रहालय हैं, उनमें 'पहाड़ी चित्रकला' को स्थान मिला है। पहाड़ी चित्रकला ने विदेशों के जितने कला-मर्मज्ञों को आकृष्ट किया, उनके द्वारा किया गया विवेचन इस शैली के माध्यम से भारतीय संस्कृति की महिमा को रेखांकित करता है।

यह कला एकाधिक नामों से अभिहित है। पहाड़ी चित्रकला इसका सर्वसम्मत नाम है। हिमालय क्षेत्र से सीधा सम्बंध होने से इसे 'हिमालय कला' के नाम से भी विद्वानों द्वारा जाना गया है। चूँकि इस कला की सर्वाधिक कृतियों का सृजन काँगड़ा क्षेत्र, विशेषतया राजा संसारचंद के राज्यकाल में हुआ, अतः सर्वसाधारण में यह कला 'कांगड़ा कलम' के नाम से लोकप्रिय रही। कालांतर में जब कलाप्रिय विद्वानों का ध्यान इस चित्रणशैली की ओर आकृष्ट हुआ तो इसके विशाल क्षेत्र को देखते हुए इसे आरम्भ में राजपूत कला कहा गया, क्योंकि जम्मू-कश्मीर, पंजाब की पहाड़ी रियासतों और गढ़वाल के समूचे क्षेत्र तथा राजस्थान में शताब्दियों से राजपूत वंशजों का शासन था और इनके प्रश्रय में कलाकारों को अनुकूल वातावरण, अवसर, और साधन प्राप्त हुए।

अतः राजपूत कला के अंतर्गत यह लघु चित्रण शैली अपनी क्षेत्रीय पहचान के अनुरूप (1) पहाड़ी चित्रकला और (2) राजस्थानी चित्रकला के नाम से कला-जगत् में प्रतिष्ठित हुई। पहाड़ी चित्रकला के अन्तर्गत भी जिन उप-शैलियों का उनके स्थानीय आधार पर नामकरण हुआ, वे बसोहली, जम्मू व पुँछ, गुलेर, काँगड़ा, मंडी, बिलासपुर, कुल्लू, गढ़वाल आदि कलमों के नाम से पहचान में आयीं। इन कलमों से जुड़े चित्रकारों ने अपने आश्रयदाता शासकों से प्रोत्साहन पाकर अपनी

प्रतिभा के अनुकूल स्थानीय विशेषताओं से उन्हें सम्पन्न किया।

पहाड़ी चित्रकला के प्रकाशनों की शृंखला में भित्तिचित्रण पर दो प्रकाशन उल्लेखनीय हैं। इनमें कला-पत्रिका *मार्ग* का एक विशेषांक है और दूसरा सुश्री मीरा सेठ का सचित्र ग्रंथ *'Wall Paintings of the Western Himalayas.'* भारतीय प्रशासनिक सेवा के हरियाणा काडर से सम्बद्ध इस विदुषी ने अपने सेवाकाल के मध्य हिमाचल के भित्तिचित्रण को अपने अध्ययन एवं शोध का विषय बनाकर कला में अपनी विशिष्ट अभिरुचि का परिचय दिया है। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित (1976) उक्त वृहदाकार सचित्र रचना पहाड़ी शैली के भित्तिचित्रण पर एक शोध ग्रंथ है और उन प्रकाशनों की शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी भी, जिनमें पहाड़ी चित्रकला अपनी उप-शैलियों सहित एक भव्य स्वरूप लिए उद्‌घाटित हुई है।

कागज़ और ग्रंथ-चित्रण के अतिरिक्त पहाड़ी शैली ने अपना परिचय भित्ति-चित्रण, वस्त्र-चित्रण और काष्ठ-चित्रण (उत्कीर्णन) के रूप में देकर अपने कला-क्षेत्र का विस्तार किया है। राजमहल, मंदिर, धनी-मानी व्यक्तियों की हवेलियाँ और सार्वजनिक सरोकार के भवन आदि पहाड़ी शैली में भित्ति-चित्रण से सुशोभित हुए। इस कला-शैली की भव्यता के प्रमाण आज भी अनेक स्थानों पर द्रष्टव्य हैं, जैसे सुजानपुर टिहरा, नूरपुर, धर्मशाला और डाडासिबा, मंडी तथा चम्बा नगर, सुल्तानपुर-कुल्लू, शोघी-शिमला, अर्की और नालागढ़। हिमाचल में उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त जो स्थान इसकी सीमा के निकट हैं, उनमें भी निम्नलिखित स्थानों पर भित्ति-चित्रण के साक्ष्य पाए गए हैं जैसे—डमटाल, पिंडोरी, कलानौर, डेरा बाबा नानक आदि। ये सभी स्थान गुरदासपुर ज़िला (पंजाब) में स्थित हैं। चम्बा रंगमहल के सम्बंध में उल्लेखनीय है कि वहाँ के कुछ चित्रपट (panel) आधुनिक तकनीक के द्वारा दीवारों से अलगकर भूरिसिंह संग्रहालय-चम्बा, राष्ट्रीय संग्रहालय-नई दिल्ली तथा राज्य संग्रहालय-शिमला में पुनः स्थापित किए गए हैं।

पहाड़ी चित्रकला का एक अन्य क्षेत्र वस्त्र-चित्रण है, जो कशीदाकारी के रूप में प्रकट हुआ है। कशीदाकारी की यह कला विशेषतः 'चम्बा रूमाल' के नाम से जानी गई। चूँकि पहाड़ी चित्रकला के विषय के अनुरूप यह चम्बा तक सीमित रही और यहीं से इसकी सर्वश्रेष्ठ कृतियों का सृजन हुआ है। इस कला में पहाड़ी चित्रकला के कुछ चीह्ने हुए विषयों का मलमल के कपड़े पर रंगीन रेशमी धागों से दो-रुखा कढ़ाई द्वारा चित्रांकन किया जाता है, जो कपड़े के दोनों ओर एक जैसी उभरती है। चम्बा रूमाल की कशीदाकारी महिलाओं तक सीमित रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि चम्बा शैली के चित्रकारों की कलाकृतियों को देखते-देखते बहू-बेटियों को भी प्रेरणा प्राप्त हुई और उन्होंने अपने गृह-परिवार के कलानुकूल वातावरण में

पहाड़ी चित्रकला के क्षेत्र में अपने लिए प्रवेश पाने के उद्देश्य से इस नई कला का सृजन किया, जिसे *चम्बा रूमाल* नाम मिला। घर के पूजा-कक्ष तथा उपयुक्त स्थान में दीवारों पर साज-सज्जा की दृष्टि से इसे स्थान मिला। पुत्री के विवाह में दहेज की सामग्री में भी इसे सम्मिलित किया गया और जब इस कला का लोप होने लगा तो इसे पहाड़ी चित्रकृतियों के साथ-साथ कला-संग्रहालयों में स्थान प्राप्त हुआ। बीसवीं शती में इस विलुप्त होती कला को पुनर्जीवन देने की दिशा में महेशी देवी का योगदान स्मरणीय रहा। भारत सरकार ने उनके इस कार्य के लिए वर्ष 1965 में उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया।

चम्बा रूमाल का एक लोकप्रिय विषय 'रासलीला' रहा। ऐसे ही एक चित्र में राजा-रानी को चौसर (पहाड़ी में 'चौपड़') खेलते हुए दर्शाया गया है। इस कला से चोली, मेज़पोश, तकिया, हथपंखी आदि वस्तुएँ अलंकृत हुई हैं। गणेश का चित्रण भी महिलाओं का प्रिय विषय रहा है। गणेश के पार्श्व में ऋद्धि-सिद्धि, हाथों में मोरछड़ और चंवर धारण किए हुए खड़ी दिखाई देती है।

देश-भर की कला-धाराओं में अजंता, एलोरा और बाघ की गुहाओं से लेकर पहाड़ी चित्रकला तक भारतीय चित्रकला की एक विशेषता उसकी लघु चित्रण तकनीक है। यह आधारभूत लक्षण लोक चित्र शैली में भी प्रत्यक्ष है। तीज-त्योहार, व्रत-कथा, जन्म, विवाह आदि से सम्बंधित अनुष्ठानों में पंडित, पुरोहित तथा महिलाएँ पूजा और सज्जा हेतु धरातल, भित्ति, प्रांगण, काष्ठ-पटल, पत्र और काग़ज़ आदि पर जैसा चित्रण करते हैं, वह सभी लघु चित्रण शैली का ही द्योतक है।

पहाड़ी चित्रकला भारतीय संस्कृति में पहाड़ी कला-मानस की देन है। यह कला अवधारणा कल्पना, रेखांकन, रूपांकन, रंग-विधान भाव-व्यंजना, रूप-विधान, सूक्ष्म सौंदर्य आदि की दृष्टि से विश्वकला परिदृश्य में बेजोड़ है। विश्व की किसी भी कला शैली में विषय का ऐसा निरूपण नहीं है. जो किसी राष्ट्र के इतिहास, साहित्य संस्कृति का दर्पण बनकर उभरा हो। पहाड़ी चित्रकला के क्रमबद्ध विकास के आधार में गुरु-शिष्य परम्परा रही है। जिस चित्रण शैली की इतनी बड़ी संख्या में कृतियाँ प्राप्त हुई हों कि उन्हें विश्व-भर के अग्रणी संग्रहालयों में स्थान मिल पाया, वह सब गुरु-शिष्य परम्परा की ही देन है।

भारत के लगभग सभी संग्रहालय राष्ट्र की इस महान धरोहर के चित्रों से सम्पन्न हैं। इन चित्रों के निर्माण में जिन रंगों, कूचियों, कागज़ (हस्त निर्मित) आदि का प्रयोग हुआ, उन्हें तैयार करने की प्रक्रिया में भी चित्रकार के परिजन तो संलग्न रहते ही थे, उनके शिष्य भी इस कला को सीखने में तत्पर रहते थे। यह समस्त कार्य गुरुकुल की परम्परा के अनुकूल चलता रहा। कलाकारों की अनेक पीढ़ियाँ निरंतर कार्य करते हुए इस कला को उसकी पराकाष्ठा तक ले गयीं। पहाड़ी कला

के अनेक चित्रकार, कदाचित् अधिसंख्य ब्राह्मण परिवारों से सम्बंध रखते थे। अतः अपने धर्म के प्रति निष्ठा, धर्मग्रंथों, संस्कृत, ब्रजभाषा एवं हिन्दी वाङ्मय का अध्ययन एवं अनुशीलन; सात्विक संस्कारों से मर्यादित दिनचर्या और आध्यात्मिक दृष्टि से अनुप्राणित जीवन शैली ही ऐसे तत्त्व थे, जिनके चलते पहाड़ी चित्रकला को उसका भव्य एवं अप्रतिम स्वरूप प्राप्त हुआ।

पहाड़ी चित्रकला के विषय-क्षेत्र पर दृष्टिपात करें तो एक विशाल धर्मपरायण, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिदृश्य का परिचय मिलता है। विशेष रूप से रामायण, महाभारत और पौराणिक ग्रंथ; संस्कृत, ब्रजभाषा एवं हिन्दी भाषाओं की कालजयी और लोकप्रिय कृतियाँ, इस कला धारा की आधारक सिद्ध हुई हैं। पुराणों में *'भागवत पुराण'* ने पहाड़ी चित्रकारों को सर्वाधिक आकृष्ट किया। जयदेव लिखित *'गीतगोविंद'* और बिहारी रचित *'बिहारी सतसई'* उनकी प्रिय रचनाएँ रहीं हैं। धार्मिक ग्रंथों में *चण्डी-उपाख्यान* (दुर्गा पाठ) का चित्रण उल्लेखनीय रहा। ब्रजभाषा की रचनाओं में *'ललित-ललाम'* ने उनकी तूलिका को लुभाया। हिन्दी वाङ्मय में भक्ति और रीतिकालीन काव्य से इन्हें अतीव रमणीय कृतियों के सृजन की प्रेरणा प्राप्त हुई। बारहमासा, रागमाला, नायक-नायिका भेद, जाने कितनी चित्रमालाएँ गूँथी गयीं। कृष्ण-लीला के अंतर्गत गोचारण, वंशी की मनमोहिनी धुन, कालिय-दमन, गोवर्धन धारण, दान-लीला, माखन-चोरी आदि विषय सैंकड़ों-हज़ारों चित्रों के आधार बने। कृष्ण और राधा तथा गोप-गोपियों के प्रसंगों की छवियाँ इसी कला शैली की तूलिका से सर्जित अन्य रमणीय कृतियाँ हैं। लोक रुचि के अनुकूल ऐसी कृतियाँ भी दर्शनीय रहीं, जो अनेक आख्यानों पर आधारित हैं; यथा—हमीरहठ, विक्रम-बेताल चरित्र, माधवानल, काम कंदला, सोहनी-महीवाल आदि।

पहाड़ी चित्रकला की कृतियों का एक वर्ग ऐसा है, जिनका सम्बंध उनके प्रश्रयदाताओं की जीवन शैली और कार्यकलाप पर प्रकाश डालता है। इनमें राजाओं के राजगृह और दरबार तथा किन्हीं विशिष्ट घटनाओं के दृश्यों का अंकन हुआ है। इस क्रम में इन राजाओं के रूप-चित्र उल्लेखनीय हैं।

पहाड़ी चित्रकला के विशाल परिदृश्य में जन-जीवन की मनोरम झाँकियाँ भी प्राप्त हैं, जिनमें पर्व, त्योहार और उत्सव के हर्षोल्लासमय वातावरण का दृश्यांकन हुआ है।

पहाड़ी चित्रकला के विषय में महान् कलाविद् रायकृष्ण दास (भारत कला भवन, बनारस) का यह अभिमत वर्तमान संदर्भ में स्मरणीय है–'देवताओं के ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गा सप्तशती इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य, ऐतिहासिक गाथा, लोक गाथा, केशव, मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि हिन्दी के प्रमुख एवं अवांतर कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिकचर्या और शबीह

तक ऐसा एक भी विषय नहीं, जिसे उन्होंने छोड़ा हो। कोई भी वस्तु अंकित करना इन चित्रकारों के लिए असम्भव था ही नहीं। न वे इसके एक-दो चित्र बनाकर ही संतुष्ट हो गए। उन्होंने जो विषय उठाया, उसकी मालिका की मालिका बना डाली, सो भी ऐसी लोकोत्तर कि देखकर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। मौलिकता इन कृतियों में ऐसी है कि आप यह न कह सकें कि वे साहित्यिक रचना पर अवलम्बित हैं। इन विशेषताओं के कारण यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अजंता युग के बाद पहाड़ी शैली में ही भारतीय कला एक ऐसी ऊँचान तक उठी है, जहाँ तक पहुँचना खिलवाड़ नहीं।'

इन शब्दों में राय कृष्णदास ने पहाड़ी चित्रकला के व्यापक स्वरूप, विशाल विषय-क्षेत्र और हिन्दी काव्य से उसके सम्बंध के महत्त्व की ओर इंगित किया है, जिस पर हिन्दी साहित्य के विद्वानों और शोधार्थियों को ध्यान देने की आवश्यकता है। यह एक विडम्बना है कि जिस कला के चितेरों ने दो-अढ़ाई शताब्दियों के सुदीर्घ इतिहास में हिन्दी साहित्य को अपने चिंतन और साधना का विषय बनाया हो, उससे सम्बद्ध साहित्य अधिकांशतः अंग्रेज़ी भाषा में उपलब्ध हुआ है। इसकी तुलना में हिन्दी भाषा-साहित्य और अपनी कला से जुड़े आज की पीढ़ी के लोग तो पिछड़े हुए ही सिद्ध हुए हैं। सम्पूर्ण भारत, विशेषतया हिन्दी भाषी क्षेत्र में किसी विश्वविद्यालय, महाविद्यालय अथवा विद्यालय के पाठ्यक्रम में इस महान कला शैली और विरासत पर कोई अध्ययन, चिंतन और शोध की व्यवस्था नहीं है। अंग्रेज़ी में पहाड़ी चित्रकला सम्बंधी साहित्य (सचित्र) लिखने में अनेक विद्वानों का योगदान उल्लेखनीय है। इन कृतियों और लेखकों की नामावली इतनी लम्बी हो सकती है, जिसका यहाँ उल्लेख मात्र भी सम्भव नहीं है। फिर भी प्रसंगवश किन्हीं रचयिताओं का उल्लेख आवश्यक है।

सामान्यतः पहाड़ी चित्रकला की कृतियों पर चित्रकार द्वारा अपना नाम अंकित करने की परम्परा नहीं रही और यदि चित्र के पृष्ठ भाग में कुछ पंक्तियाँ लिखी गई हैं तो उसमें चित्रकार की निष्ठा और आत्म-समर्पण का भाव व्यक्त हुआ है। ऐसे ही कुछ चित्रकारों के नामों का पता चलता है और कुछ रूप-छवियाँ तथा रेखाचित्र भी प्राप्त हुए हैं। पहाड़ी चित्रकला के आश्रयदाताओं व पोषकों में काँगड़ा के राजा संसारचंद (1775--1823 ई) का नाम सर्वोपरि है। कतिपय ऐसे भी साक्ष्य प्राप्त हैं, जिनमें चित्रकार अपनी किसी विशिष्ट कलाकृति को राजा संसारचंद को विनम्रता से भेंट करता हुआ दिखाया गया है।

राजा संसारचंद के यहाँ अनेक पहाड़ी चित्रकार कार्यरत रहे, जिनमें गुलेर के सेऊ और उसके दो पुत्र माणक और नैनसुख उल्लेखनीय हैं। माणक के पुत्र खुशाला ने अपने सृजन से, अपने परिवार की कला-परम्परा का संवर्द्धन किया है,

जिसका एक उदाहरण *'बिहारी सतसई'* का भव्य चित्रण है। डॉ. एम.एस. रंधावा की पहाड़ी चित्रकला के प्रकाशनों की शृंखला में यह ग्रंथ खुशाला चित्रकार के चित्रों से अलंकृत है। नैनसुख ने जसरोटा के राजा बलवंत सिंह के प्रश्रय में भी कार्य किया, जिसका एक दृष्टांत प्रिंस ऑव वेल्स म्यूज़ियम, मुम्बई में दर्शाया गया है। इस चित्र (1758) में राजा पत्र लिखते हुए दर्शाए गए हैं।

पहाड़ी चित्रकला के चितेरों में हरसु, पुरखु, कृष्णलाल, फत्तु, रामदयाल, गंजू, सजनु आदि नामों का उल्लेख हुआ है। हरसु, हरसुख के लिए और पुरखु पुरुषोत्तम के लिए प्रयुक्त हैं। इनमें से गंजु और सजनु नाम के कलाकार मंडी से जुड़े हैं। मूलतः काँगड़ा के इस सजनु नाम के कलाकार ने मंडी के शासक राजा ईश्वरी सेन (1788-1826) के लिए भी अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं। इस प्रक्रिया में हिन्दी काव्य-रचना *'हमीरहठ'* पर आधारित 20 चित्रों का एक शृंखलाबद्ध संकलन कलाकार द्वारा राजा को भेंट किया गया था। अपने मंडी आवास के दौरान वहाँ के प्रसिद्ध स्थानीय सांस्कृतिक उत्सव 'शिवरात्रि' का भी उसने चित्रण किया। इस कृति का प्रकाशन मंडी स्टेट गज़ेटियर (1920 ई.) में हुआ है। इस चित्र की यदि आज शिवरात्रि मेला (मंडी) के किसी छाया चित्र से तुलना की जाए तो विषयवस्तु की दृष्टि से उनमें कोई अंतर प्रतीत नहीं होगा। प्रत्युत यह हस्तचित्र अपने सूक्ष्म विस्तार, पृष्ठभूमि और छोटी-छोटी आकृतियों के निरूपण में एक अतीव सुन्दर सृजन का परिचय देता है।

मंडी शैली के चित्रकारों में कपूरगिरि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसका साक्ष्य *रामायण* की एक सचित्र प्रति है, जो सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में संरक्षित है। मंडी चित्र शैली के अंतिम कालखंड से मुहम्मदी और मोतीराम राजड़ा के नाम जुड़े हैं। मुहम्मदी ने गुलेर के राजा जयसिंह के लिए भी चित्र बनाए, जहाँ उसने उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में कार्य किया।

गुलेर के एक अन्य कलाकार चण्डीदास के नाम से जाने गए हैं। उन्हें चम्बा के रंगमहल में चित्रण का श्रेय प्राप्त रहा। इस कार्य में डोगरू और भगतु नाम के चित्रकारों का भी योगदान रहा। अठारहवीं शती के मध्य में रची गयी, कुल्लू से प्राप्त भागवत पुराण पर आधारित चित्रकृतियों के रचनाकार का नाम प्रीतम सिंह था। कहलूर (बिलासपुर) से भी *भागवत पुराण* से सम्बंधित चित्र देखने में आए हैं, जिनके रचनाकार किशनचंद थे। हंडूर रियासत के एक कलाकार हरि सिंह थे। सम्भवतः यही कलाकार हरि सिंह दास (1788-1857) के नाम से भी ज्ञात रहे। हरिसिंह नाम के एक चित्रकार की कृतियाँ मनीमाजरा और नाहन (सिरमौर) से भी प्राप्त हुई हैं।

बसोहली चित्र शैली के कलाकार देवीदास ने राजा कृपालपाल (1678-1763)

के समय में कार्य किया। उन्होंने 'रसमंजरी' की चित्रशृंखला का सृजन कर प्रभूत ख्याति प्राप्त की।

पहाड़ी चित्रकला के चित्रकारों में लैहरु नामक कलाकार *भागवत पुराण* चित्रावली की रचना के लिए उल्लेखनीय रहे। कहीं-कहीं कतिपय चित्रकारों के नामों के साथ जाति (व्यवसाय) बोधक नाम 'तरखान' या 'त्रखाण' भी जुड़ा हुआ है, जैसे सेऊ, देवदास, लैहरू आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का प्रयोग 'शिल्पी' के लिए हुआ होगा। वर्तमान में तरखान से तात्पर्य काष्ठ-शिल्पी से है। पहाड़ी चित्रकला के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि चित्र शैली कागज़-पत्र पर ही अंकित नहीं हुई, प्रत्युत् काष्ठोत्कीर्णन में भी इसके प्रबल प्रमाण मिलते हैं।

पहाड़ी चित्रकला की मुख्य धारा में गढ़वाल शैली ने भी अपनी किन्हीं निजी विशेषताओं का परिचय दिया है। इस शैली के चित्रकारों में मोलाराम का नाम सर्वोच्च रहा है। मोलाराम बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने गढ़वाल क्षेत्र में चित्रकला के अतिरिक्त एक कवि और इतिहासकार के रूप में भी ख्याति अर्जित की है। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक *हिमालय परिचय* (प्रथम भाग) में मोलाराम की वंशावली का उल्लेख किया है। उनका जीवन-काल 1740-1823 ई. निश्चित हुआ है। मोलाराम को पद्य में *'गढ़राजवंश'* के इतिहास की रचना का श्रेय प्राप्त रहा। इस ग्रंथ की आरम्भिक पंक्तियों में तत्कालीन शासक श्यामसाह के राज्यकाल की भ्रष्ट व्यवस्था के विरोध में जन-जागरण के लिए आह्वान है—

क्यों कर भ्रष्ट यह राज
सब पंचन हूँ यह मिली क्या
तब यह पावन पुस्त सौ, कीनी कथा बखान
एक-एक कर कहत हूँ, सुनो पंच प्रधान।

राहुल जी की उपर्युक्त पुस्तक में उन्होंने लिखा है, 'मोलाराम के पौत्र आत्माराम तक वंश में चित्रकला रही। उसके बाद वंशजों ने पहले सोनारी, फिर दुकानदारी का काम संभाल लिया। चित्रकारी से जीविका नहीं चल रही थी।'

गढ़वाल शैली के सम्बंध में बैरिस्टर मुकुंदी लाल की रचना एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इस शैली में रामायण, महाभारत, नायक-नायिका भेद, अष्ट-दुर्गा, नवग्रह, दशावतार, कामसूत्र, रुक्मिणी-मंगल, नल-दमयंती, उषा-अनिरुद्ध आदि विषयों का चित्रण पहाड़ी चित्रकला के गौरव में अभिवृद्धि करता है।

पहाड़ी चित्रकला के परिदृश्य में डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी ऐसे सर्वप्रथम विद्वान थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभा, कला-अभिरुचि, इतिहास, संस्कृत एवं हिन्दी वाङ्मय के ज्ञान के आधार पर पहाड़ी चित्रकला को विश्व कला-जगत् में प्रतिष्ठित किया। *'राजपूत पेंटिंग'* (1916) शीर्षक से उनकी एक कृति (सचित्र) दो भागों में

प्रोषित पतिका नायिका : नूरपुर, 1825

वर्षा ऋतु में राधा-कृष्ण : कांगड़ा, 1800

काली : मण्डी, 1775
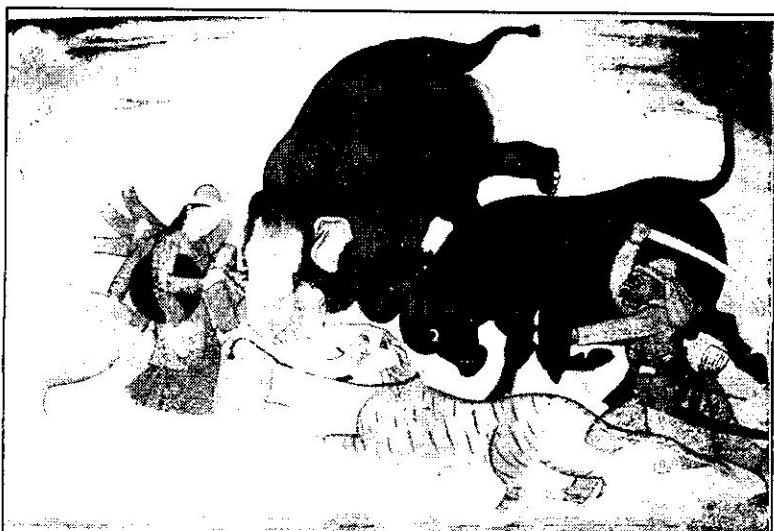
देवी – महिषासुर का वध करते हुए : गुलेर, 1780

रामायण का दृश्य – मृग का पीछा करते राम : चम्बा, 1800

प्रकाशित हुई है। पहाड़ी चित्रकला के साहित्य व इतिहास के क्षेत्र में यह ग्रंथ एक आद्य रचना अथवा आदि स्रोत के रूप में सम्मानित रहा है। श्रीलंका में जन्मे डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी म्यूज़ियम ऑव फाइन आर्ट्स बोस्टन (यू.एस.ए.) में क्यूरेटर के रूप में कार्यरत रहे। उनके अनेक शोधपूर्ण ग्रंथों में *'राजपूत पेंटिंग'* पहाड़ी चित्रकला और राजस्थानी चित्रकला पर अब तक के प्रकाशित ग्रंथों में सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। इस ग्रंथ में राजस्थान और पंजाब हिल स्टेट्स की हिन्दू चित्रकला (सोलहवीं से उन्नीसवीं शती तक की कालावधि में अंकित लघु चित्रण शैली) का सचित्र विवरण प्राप्त है। इस कला की कृतियाँ, जो बोस्टन संग्रहालय में संकलित हैं, उनके सूचीकरण और परिचय का श्रेय भी उन्हें प्राप्त रहा। उक्त संग्रहालय में राजपूत शैली, मुगल शैली और जैन शैली के चित्रों के सूचीकरण के अतिरिक्त *'हिस्ट्री ऑव इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट'* (1927) उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण वृहद् ग्रंथ है।

कला एवं संस्कृति के महान पुरोधा डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी ने कला-जगत् में, पहाड़ी चित्रकला की स्मृति में जिस ज्योति को प्रज्वलित किया था, उससे कितने ही विद्वानों ने अपनी प्रतिभा के दीप जलाए हैं और यह अनुभूति मात्र पहाड़ी चित्रकला तक ही सीमित नहीं, प्रत्युत् एशिया का कला क्षेत्र उनकी तूलिका से आलोकित हुआ है, जिसका साक्ष्य उनके बाद का कला-साहित्य है। इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी की जन्म-शती के उपलक्ष्य में बोस्टन म्यूज़ियम (यू.एस.ए.) समेत जिन भी संस्थानों को, उन्हें स्मरणांजलि अर्पित करने का श्रेय प्राप्त हुआ, उनमें भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला द्वारा आयोजित एक सेमीनार का उल्लेख भी वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिक प्रतीत होता है।

पहाड़ी चित्रकला पर प्रकाशित साहित्य में डॉ. डब्ल्यू.जी. आर्चर की कृतियाँ हर दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। बीसवीं शती के छठे दशक में उनके अनेक सचित्र ग्रंथों का प्रकाशन कला जगत् में पहाड़ी चित्रकला को उसके महिमामय स्वरूप में प्रकट करता है। इस शृंखला की मुख्य रचनाएँ इस प्रकार हैं : *इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स* (1952), *काँगड़ा पेंटिंग* (1952), *गढ़वाल पेंटिंग : इंट्रोडक्शन एण्ड नोट्स* (1954), *लव्स ऑव कृष्णा इन इंडियन पेंटिंग एंड पोएट्री* (1957)।

पहाड़ी चित्रकला के क्षेत्र में डॉ. एम.एस. रंधावा का अवदान बहुविध रहा है। बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न और उच्च आदर्शों से अनुप्राणित इस महान् व्यक्ति ने जिस भी कार्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, उसमें अग्रणी भूमिका के निर्वहन के साथ-साथ मार्ग-दर्शन भी किया। मूलतः उनका परिचय एक कृषि वैज्ञानिक के रूप में मिलता है। इस क्षेत्र में डी.एस-सी की उपाधि अर्जित करने के बाद उन्होंने अपनी

युवावस्था में भारतीय सेवा (आई.सी.एस.) में सीधा प्रवेश लिया। डॉ. रंधावा ने जिन सचित्र ग्रंथों की रचना की है, वह कार्य पहाड़ी चित्रकला की लगभग विस्मृत विरासत को पुनर्जीवन प्रदान करने जैसा सिद्ध हुआ है। इन कृतियों का प्रकाशन विश्व के कला-परिदृश्य में पहाड़ी चित्रकला की महिमा को रेखांकित करता है। उनकी रचनाएँ अपनी समग्रता में भारत की इस पहाड़ी चित्र शैली के विराट स्वरूप का दिग्दर्शन है। उनके सचित्र ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं–*काँगड़ा वैली पेंटिंग* (1954), *कृष्णा लिजेंड इन पहाड़ी पेंटिंग* (1956), *बसोहली पेंटिंग* (1959), *काँगड़ा पेंटिंग्स ऑव द भागवत पुराण* (1960), *काँगड़ा पेंटिंग्स ऑन लव* (1962), *कांगड़ा पेंटिंग्स ऑव द गीत गोविंद* (1963), *काँगड़ा पेंटिग्स ऑव द बिहारी सतसई* (1966) आदि।

इस विषय पर प्रसिद्ध कला पत्रिकाओं में प्रकाशित डॉ. रंधावा के लेखों के माध्यम से भी उनकी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय मिलता है। ऑल इंडिया फाइन आर्ट्स एंड क्राफ्टस की गतिविधियों तथा उसके मुख पत्र 'रूप-लेखा' के संचालन एवं मार्गदर्शन में उनकी अग्रणी भूमिका रही। अन्य प्रमुख कला-पत्रिकाओं, यथा मार्ग (मुम्बई) और आर्ट्स एण्ड लैटरस (कलकत्ता) में पहाड़ी चित्रकला की काँगड़ा, चम्बा और नूरपुर से सम्बंधित उपशैलियों और उनके चित्रकारों पर प्रकाशित लेख डॉ. रंधावा की अनथक कला सेवा के साक्ष्य हैं।

पहाड़ी चित्रकला की परिचर्चा में आई.सी.एस. श्रेणी के एक उच्च अधिकारी एन.सी. मेहता का नाम भी ध्यान आकर्षित करता है। हिमाचल के गठन (15 अप्रैल 1948) के बाद जब यह प्रदेश केन्द्र शासित क्षेत्र था, उस समय श्री मेहता यहाँ लैफ्टिनेंट गवर्नर (उप राज्यपाल) के रूप में नियुक्त हुए थे। अतः उनके द्वारा संकलित चित्रों में पहाड़ी चित्रशैली की कृतियाँ भी हैं। अहमदाबाद (गुजरात) में उनके नाम की एक कला-दीर्घा है : 'एन.सी. मेहता गैलरी ऑव मिनिएचर पेंटिंग्स।' इसका संचालन गुजरात म्यूज़ियम सोसायटी कर रही है। इस परिचर्चा के संदर्भ में उनकी दो कृतियाँ उल्लेखनीय हैं : *Studies in Indian Painting* (1962) और *The Golden flute* (1962)। श्री मेहता का एक लेख 'हिमाचल चित्रकला' शीर्षक से 'कल्याण' के एक विशेषांक में प्रकाशित हुआ था। तब उनका अनुमान था कि पहाड़ी शैली के चित्रों की संख्या पचास हज़ार है। इस संख्या के आधार पर हम इस चित्र-शैली के विराट स्वरूप और उसकी लोकप्रियता की परिकल्पना भी कर सकते हैं।

पहाड़ी चित्रकला के विद्वानों की शृंखला में जिस एक अन्य व्यक्ति ने आकृष्ट किया वह मुम्बई के एक ख्यातिलब्ध पेशेवर वकील कार्ल खंडेलवाला थे। उन्होंने अपनी कला अभिरुचि से प्रेरित *'पहाड़ी मिनिएचर पेंटिंग'* (1958) का लेखन कर इस चित्रकला के क्षेत्र में स्थान बनाकर यथेष्ट प्रतिष्ठा अर्जित की। इन

पंक्तियों के लेखक की कार्ल खण्डेलवाला से शिमला में भेंट डॉ. विश्वचन्द्र ओहरी के सौजन्य से हुई थी, जिसकी प्रतीति मानसपटल पर आज भी जीवंत है।

पहाड़ी चित्रकला के अध्ययन-विश्लेषण के क्षेत्र में डॉ. बी.एन. गोस्वामी एक सर्वथा अलग पहचान रखते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा को तिलांजलि देकर उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से *The Social Background of Kangra Valley Painting* विषय पर शोध करके पी-एच.डी. की उपाधि अर्जित की थी। इसी विश्वविद्यालय में वह इतिहास विभाग के अध्यक्ष रहे। देश-विदेश के संग्रहालयों में पहाड़ी चित्रकला की अनेक परिचित-अपरिचित कृतियों की सामान्य एवं विशिष्ट जानकारी के साथ-साथ विदेशों की कला-थाती और समसामयिक कला परिदृश्य का चित्रण एवं विवरण उनके कला-मानस के विशाल पटल एवं अनथक लेखनी की यात्रा का परिचय देता रहा है। कला और संस्कृति सम्बंधी पत्र-पत्रिकाओं (अंग्रेज़ी) में पहाड़ी चित्रकला शैली से सम्बंधित उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं।

पहाड़ी चित्रकला के वर्तमान परिदृश्य में चार चित्रकारों का योगदान प्रशंसनीय रहा है। इनमें बीसवीं शती के चन्दूलाल रैणा अपने समय की एक मात्र ऐसी प्रतिभा थे, जिसने अपने कलाकार पूर्वजों की इस विरासत को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी बनाए रखा। एक अन्य चित्रकार ओम प्रकाश टाक धर्मशाला में साधनारत हैं। इस शृंखला के एक सिद्धहस्त कलाकार ओम सुजानपुरी हैं जो विगत कई दशकों से कांगड़ा शैली में चित्रण करते आ रहे हैं। अब तक इन्होंने लगभग एक हज़ार चित्रों की रचना कर इस चित्रशैली को समृद्ध किया है। इसी क्रम में चम्बा के विजय शर्मा का नाम एक नई आभा लिए हुए प्रकट हुआ है। पहाड़ी चित्रकला को समर्पित इस प्रतिभावान् कलाकार को इसी वर्ष राष्ट्रीय सम्मान 'पद्मश्री' से अलंकृत होने का गौरव प्राप्त हुआ है। सम्प्रति वह भूरि सिंह संग्रहालय, चम्बा में वरिष्ठ कलाकार के पद पर कार्यरत हैं।

काँगड़ा घाटी के चित्रकारों के घराने

विजय शर्मा

भारत में चित्रकला और शास्त्रीय संगीत की विधाएँ राजपूत और मुस्लिम शासकों के प्रश्रय में फलती-फूलती रहीं। राजकीय संरक्षण में पनपनेवाली ये दरबारी कलाएँ थीं। राजाश्रित चित्रकारों और संगीत के कलावन्तों ने समर्पित भाव से इन पारम्परिक कलाओं का उन्नयन किया। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी कलाओं के प्रति प्रतिबद्ध रहते हुए दरबारी कलाकारों ने एक लम्बी अवधि तक कला रचना में निरंतरता बनाए रखी।

मध्यकालीन भारत में, विशेषकर उत्तर भारत के रजवाड़ों में, दरबारी संगीतकारों ने शास्त्रीय संगीत की अटूट परम्परा का निर्वहन किया। शासकों और सामंतों ने उदारता से संगीतकारों और उनके वंशधरों को प्रश्रय दिया। फलतः पीढ़ी-दर-पीढ़ी संगीत को समर्पित कलावंतों के घराने बन गए। आज शास्त्रीय संगीत के कतिपय घराने ग्वालियर, आगरा, रामपुर, दिल्ली और पटियाला आदि के नामों से विख्यात हैं। गायन शैली की परस्पर विविधता के कारण इन घरानों में अंतर स्वतः उजागर होता है। शास्त्रीय संगीत की भांति चित्रांकन भी राजाश्रित कला रही और शास्त्रीय संगीत के घराने हुए तो दरबारी चित्रकारों की भी शैलियाँ थीं। इन विभिन्न शैलियों में चित्रांकन करनेवाले चितेरों के भी घराने थे।

भारतीय लघुचित्रकला की दो प्रमुख धाराएँ रही हैं—मुगल और राजपूत चित्रकला। भारत में मुगलों के आगमन के साथ एक नए सांस्कृतिक आंदोलन का प्रारम्भ हुआ। मुगलकाल सांस्कृतिक संक्रमण का काल था। सम्राट अकबर के काल में चित्रकला में यथार्थपूर्ण चित्रांकन का प्रारम्भ हुआ। शाही चित्रकला में बड़े पैमाने पर हस्तलिखित सचित्र ग्रंथों के साथ-साथ स्वतंत्र चित्रों का अंकन होने लगा था। अकबर जैसे कलाप्रिय सम्राट एवं उसके उत्तराधिकारियों की छत्रछाया में मुगल चित्रकला विकसित होकर कला के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँची। मुगल सम्राटों की

उदारता और संरक्षण में मुगल चित्रकला के उन्नयन का प्रभाव केवल मुगल दरबार तक न रहा, बल्कि राजस्थान एवं पहाड़ी रजवाड़ों के राजपूत शासकों और सामंतों ने भी अपने संरक्षक मुगल शासकों से प्रेरणा और प्रतिस्पर्धा लेते हुए राजपूत चित्रकला को पोषित किया।

कलामनीषी आनंद कुमारस्वामी पहले कलाविद् थे, जिन्होंने भारतीय कला एवं दर्शन पर विद्वतापूर्ण लेखन करके पाश्चात्य जगत् को विस्मित किया। भारतीय चित्रकला के अन्तर्गत 'राजपूत कलम' का नामकरण करके उन्होंने इस चित्रकला को, विषयवस्तु एवं चित्रांकन विधान के स्तर पर भिन्न स्वीकार करते हुए, उसकी पृथक् पहचान का निरूपण किया। राजपूत कला के अंतर्गत उनका अभिप्राय उन चित्रशैलियों से था, जिन्हें राजस्थान एवं उत्तर-पश्चिमी हिमालय की पहाड़ी रियासतों के राजपूत शासकों ने पोषित किया था। मुगल चित्रकला में, जहाँ सम्राटों और उनके अधिकारियों को दरबारी परिवेश की चकाचौंध और विलासिता से आक्रांत दर्शाया गया है, वहीं राजपूत शैली के चित्रों में, हिन्दू जीवन दर्शन के पुनरुत्थान के युग का आभास मिलता है। राजपूत कलम को महिमामंडित करती आनन्द कुमारस्वामी की टिप्पणी है–'भू-दृश्यों के अंकन में चीन की चित्रकला ने जो उपलब्धि अर्जित की, वही स्थिति यहाँ की कला में मानवीय प्रेम के चित्रण में रही।'

राजपूत चित्रकला को हिन्दू जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति मानते हुए कुमारस्वामी ने इसका दो मुख्य धाराओं–राजस्थानी एवं पहाड़ी में वर्गीकरण किया है। पहाड़ी चित्रकला से उनका अभिप्राय उन चित्रशैलियों से है जो हिमालय की तराई में स्थापित पहाड़ी रजवाड़ों के संरक्षण में पनपीं तथा विकसित हुईं। ऐसी अधिकांश पहाड़ी चित्र-शैलियाँ सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य जम्मू से लेकर गढ़वाल तक विभिन्न पहाड़ी रियासतों में पोषित हुईं।

पहाड़ी राजपूत शासकों का कलाओं के प्रति असाधारण अनुराग था। वे अपने राज्यों में मंदिरों, विशेष भवनों और राज-प्रासादों को कलापूर्ण चित्रों से सुसज्जित किया करते थे। इन नृपतियों ने लघु चित्रकला को पोषित करने में असाधारण रुचि दर्शाते हुए, त्रखाण चित्रकारों को प्रश्रय दिया। पहाड़ी चित्रकला के विकास में यहाँ के शासकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। बिना राजाश्रय के इस कला का उत्थान सम्भव न था। जिस प्रकार किसी आलम्बन के बिना बेल का विकास नहीं होता, उसी प्रकार राजकीय संरक्षण के बिना कलाएँ भी विकसित नहीं होतीं। 'भूप से लसित कवि, कवि से लसित भूप' वाली दरबारी कहावत पहाड़ी चित्रकारों के संदर्भ में भी सटीक प्रतीत होती है। केवल राजा ही कलाओं के पोषक नहीं थे, बल्कि राज्य के वज़ीर, जागीरदार और धनिक भी कलाओं के गुणग्राहक थे और कलाओं के प्रति रुचि रखते थे। कवि, संगीतज्ञ, शिल्पी और चित्रकार निम्न मध्यवर्ग

में जन्म लेकर तब महाराजा, वज़ीर, उमराव और धनिकों आदि अभिजात वर्ग के आश्रय में रहा करते थे।

चितेरे पारिवारिक चित्रशाला में सामूहिक रूप से चित्रांकन किया करते थे और उनकी मासिक वृत्तियाँ बंधी हुई थीं। ऐसे भी तथ्य प्रकाश में आए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि कलाकारों को कृषि योग्य भूमि जागीर के रूप में पुरस्कार स्वरूप प्रदान की जाती थीं। उत्कृष्ट कलाकृतियों की रचना पर चित्रकारों को स्वर्णाभूषण आदि के परितोषिक से सम्मानित किए जाने की भी परम्परा थी, जिससे कलाकार प्रोत्साहित होकर अपनी कला में श्रेष्ठतम सृजन के लिए प्रयासरत रहते थे। चितेरों के लिए रोज़ी-रोटी की व्यवस्था के अतिरिक्त शासक उनके मौलिक कला-कर्म के अनुकूल परिवेश भी उपलब्ध करवाते थे।

दरबारी संस्कृति के अंतर्गत चित्रकला, साहित्य एवं संगीत आदि कलाओं के प्रति अभिरुचि से भी अभिजात वर्ग की पहचान होती थी। जयपुर के प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ रामगोपाल विजयवर्गीय के अनुसार– 'चित्र, तलवार, घोड़ा, राग और रत्न के पारखियों को सभ्य समाज में सम्माननीय समझा जाता था। यहाँ तक कि राजसभा के दरबारियों में इन गुणों का होना अनिवार्य था। कलाकार भी उसी दरबारी माहौल में रम जाते थे और दरबारी मान्यताओं, रंग-ढंग, जीवन-शैली व मूल्यों के अनुरूप ढल जाते थे। उच्च कोटि के प्रतिभाशाली कवियों, चितेरों और संगीतज्ञों को राजदरबारों में यथोचित सम्मान मिलता था। पारितोषिक के रूप में उन्हें भारी भरकम धनराशि और स्वर्णाभूषण आदि प्रदान किए जाते थे। सम्भवतः उस युग के पहाड़ी शासकों एवं सामंतों में प्रसिद्ध चित्रकारों को संरक्षण देने के लिए प्रतिस्पर्धा भी चला करती थीं।'

पहाड़ी चित्रकारों से सम्बंधित सूचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। विभिन्न तीर्थ स्थलों पर पण्डों के बहीखातों में दर्ज़ अभिलेखों से कुछ सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इन अभिलेखों में चितेरों को 'त्रखाण चतेरा' से सम्बोधित किया गया है। किन्तु चित्रकारी के अतिरिक्त ये त्रखाण धातु अथवा काष्ठ शिल्प के विविध कार्य में भी दक्षता रखते थे।

तीर्थ स्थलों के आलेख चित्रकारों के कलाकर्म को उद्घाटित नहीं करते। उनसे केवल उनकी मृत्यु-तिथि और भ्रमण की तिथियों का पता चलता है। कुछ चित्रकारों ने पण्डों की बही में आलेख दर्ज़ करवाते समय कलम से विभिन्न देवी-देवताओं के रेखांकन भी किए हैं। किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। बहुत ही कम चित्रकारों ने कृतियों पर अपने हस्ताक्षर किए हैं। ये तिथियुक्त आलेख चित्रकारों की कार्यशैली एवं पहाड़ी चित्रकला के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ हैं। चित्रों के पीछे लिखी पुष्पिका से यह भी ज्ञात होता है कि अमुक

चित्रकार किस शासक के आश्रय में चित्रांकन करता था। कुछ आलेखों से एक चित्रकार द्वारा एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर संरक्षण प्राप्त करने के साक्ष्य भी प्रकाश में आए हैं। पण्डों के अभिलेखों के अतिरिक्त राजस्व विभाग के रिकॉर्ड से भी चित्रकारों की वंशावलियों को जानने में सहायता मिलती है। परन्तु इन सूचनाओं से पहाड़ी चित्रकला के इतिहास को संकलित कर पाना संभव नहीं है।

चित्रकारों के शादी-विवाह के सम्बंध प्रायः चित्रकार अथवा अन्य दस्तकार परिवारों में ही होते थे। कश्मीरी ब्राह्मण होने के बावजूद पं. सेऊ के वंशजों को त्रखाण-लुहार आदि वर्ग के परिवारों में रिश्ते करने पड़े। इसी प्रकार चम्बा के चितेरे मणिकंठ गोत्र के ब्राह्मण थे, परन्तु अब उनके वंशज धीमान वर्ग में अपने वैवाहिक रिश्ते करते हैं। नैनसुख के पुत्र राँझा के पोते देवीदित्ता ने नूरपुर के चित्रकार परिवार में विवाह किया था। देवीदित्ता बसोहली में चित्रांकन करता रहा। बाद में वह पटियाला दरबार में चित्रांकन करने लगा तथा वहीं उसकी मृत्यु हो गई। उसके अवशेष लेकर उसकी सास हरिद्वार आई थी।

नूरपुर के चित्रकार

पहाड़ी चित्रकला के इतिहास में नूरपुर राज्य अग्रणी रहा है। यहाँ के पठानिया शासकों ने चित्रकारों को उदारता से संरक्षण देकर कला आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। नूरपुर राज्य सम्भवतः पहाड़ी चित्रकला का प्रारम्भिक केन्द्र था, जहाँ सतरहवीं शती के प्रारम्भ में राजा बसु के राज्यकाल (1580-1613 ई.) में चित्रशाला की स्थापना हो चुकी थी। राजा बसु मुगल सम्राट अकबर और जहाँगीर का कृपापात्र था। उनका पुत्र राजा जगत सिंह भी नूरपुर का महत्त्वपूर्ण शासक हुआ, जिसके समकालीन शबीह चित्र उपलब्ध हैं।

भौगोलिक दृष्टि से नूरपुर, बसोहली और चम्बा परस्पर पड़ोसी राज्य थे। इस कारण इस क्षेत्र में बसे चित्रकार राजाश्रय प्राप्ति के उद्देश्य से प्रायः एक से दूसरे राज्य में आते-जाते रहते थे। नूरपुर के चित्रकारों को चम्बा और बसोहली जैसे पड़ोसी राज्यों में पर्याप्त मान-सम्मान मिलता था। वर्ष 1620 से 1640 तक चम्बा राज्य नूरपुर के अधीन रहा। इस काल में बसोहली का राजा संग्राम पाल कलाओं का संरक्षक रहा। उसके शासनकाल में नूरपुर के चित्रकारों ने बसोहली दरबार में चित्रांकन प्रारम्भ किया। नूरपुर के चित्रकार परिवार का एक वशंधर देवीदास बसोहली नरेश कृपाल पाल का आश्रित कलाकार रहा। उसने कलानुरागी एवं विद्वान राजा कृपाल पाल हेतु 1695 ई. में *रसमंजरी* विषय पर आधारित चित्रशृंखला की रचना की थी। इस चित्रशृंखला के अंतिम चित्र पर लिखित पुष्पिका में देवीदास चित्रकार का नाम अंकित है। यह चित्र अब बनारस के *भारत कला भवन* में सुरक्षित है।

हरिद्वार और अन्य तीर्थस्थानों में पण्डों की बहियों मे दर्ज़ आलेखों से देवीदास के वंशजों के नाम उद्घाटित हुए हैं। हरिद्वार के रिकॉर्ड के अनुसार नूरपुर के चित्रकार विरदी गोत्र से सम्बंधित थे। देवीदास के पिता कृपाल और पितामह रत्तो के नाम प्रकाश में आए हैं। इन आलेखों में देवीदास के तीन पुत्रों गोलू, निक्कू और ठाकुरू का उल्लेख मिलता है। गोलू असाधारण प्रतिभा सम्पन्न कलाकार था। उसका व्यक्तिचित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में संगृहीत है। कला इतिहासकारों ने बृजराज स्वामी मंदिर नूरपुर के भित्तिचित्रों का श्रेय गोलू चित्रकार को दिया है। नूरपुर में आज तक इस महान चित्रकार का स्मरण किया जाता है। वहाँ एक क्षेत्र को *गोलू मुहल्ला* के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक वर्ष आषाढ़ मास में गोलू की स्मृति में एक मेले का आयोजन किया जाता है।

हरिद्वार में पण्डों के अभिलेखों से यह तथ्य भी प्रकाश में आया है कि गोलू के कुछ वंशज नूरपुर के समीप गंगथ नामक गाँव में बस गए थे। गोलू के सात पुत्र थे और उनमें से जालपादास के पुत्रों सीबा और बैकुंठा नामक दो चितेरों के हस्ताक्षरित चित्र प्रकाश में आ चुके हैं। सीबा काँगड़ा के महाराजा संसारचंद के दरबार में कुछ समय तक चित्रांकन करता रहा। किन्तु उपेक्षा का शिकार होने के कारण वह वापिस लौट आया था।

काँगड़ा छोड़ने से पूर्व सीबा ने महाराजा संसार चंद को एक मार्मिक पत्र लिखकर अपनी दुर्दशा बयान की थी। सीबा का भाई बैकुंठा भी कुशल चितेरा था और उसे मण्डी के महाराजा बलबीर सेन ने संरक्षण दिया था। बैकुंठा द्वारा बनाया गया मण्डी नरेश का एक व्यक्तिचित्र एनसी मेहता के संग्रह में था; जो अब लालभाई दलपतभाई संग्रहालय, अहमदाबाद में सुरक्षित है। बैकुंठा के पुत्र नरसिंह द्वारा हरिद्वार में पण्डों की बही में आलेख दर्ज़ करवाते समय बनाया गया चतुर्भुजी देवी का रेखांकन इंगित करता है कि नूरपुर के चितेरे गुलेर चित्रांकन परम्परा का निर्वाह करने लगे थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गुलेर के चित्रकार गुरसहाई के परिवार के वैवाहिक सम्बंध नूरपुर के गोलू परिवार के वंशजों से थे। हरिद्वार में दर्ज़ रिकॉर्ड के अनुसार चित्रकार गोलू की अस्थियाँ वर्ष 1788 ई. में गंगा में प्रवाहित की गई थीं। नूरपुर के इस चित्रकार परिवार से सम्बंधित सूचनाएँ हरिद्वार, कुरुक्षेत्र और पिहोवा में पण्डों के रिकॉर्ड में उपलब्ध हैं।

इनके अतिरिक्त नूरपुर में कार्यरत कुछ अन्य चित्रकार परिवारों की सूचना मिली है, जो नूरपुर दरबार के लिए चित्रांकन करते थे। पिहोवा के पण्डा साधूराम अत्री की बही में दर्ज़ चित्रकार कालू और उसके भाइयों के नाम इस प्रकार से हैं–

त्रखाण

कालू घसीटू सोहणू छज्जू के, पोते संदोषे के।

भोलू कालू का। कालू आया–पिता के, सोहरे किसन
के फूल सं. 1906 (ई. 1848)

चित्रकार कालू ने हरिद्वार की बही में भी आलेख दर्ज़ करवाया था, जिसमें तिथि का उल्लेख नहीं है। इस लेख में कालू ने स्वयं को हरयाण गोत्र का बताया है। हालाँकि इस चित्रकार के हस्ताक्षर युक्त कोई भी चित्र प्रकाश में नहीं आया है।

नूरपुर के एक अन्य चित्रकार परिवार के सदस्य बसदी ने पिहोवा में पण्डे की बही में संक्षिप्त आलेख दर्ज़ करवाया था। वह आलेख इस प्रकार से हैं–

त्रखाण चतहरे
वासी नूरपुर के/बसदी झगड़ू का/पोता संगतीए का।

इस चित्रकार परिवार से सम्बंधित कोई अन्य सूचना किसी भी स्रोत से नहीं मिली। नूरपुर के एक अन्य चित्रकार परिवार का जमूरा नामक सदस्य वर्ष 1885 ई. में हरिद्वार तीर्थयात्रा पर गया था। जमूरा ने आलेख में अपने पिता जल्हा और पितामह नाथू के नाम दर्ज़ करवाए थे। नूरपुर के चित्रकार हरजमाल के हस्ताक्षर एक चित्र पर हैं, परन्तु उससे सम्बंधित कोई भी सूचना पंडों के रिकॉर्ड से नहीं मिलती।

गुलेर के चित्रकार

पहाड़ी चित्रकला के इतिहास में गुलेर कलम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुलेर के राजा दिलीप सिंह एवं उसके पुत्रों बिशन सिंह और गोवर्धन चंद के व्यक्तिचित्रों द्वारा 18वीं शती के प्रारम्भ से यहाँ चित्रांकन परम्परा स्थापित होने की पुष्टि होती है। गुलेर राज्य में मुगल कला की प्रवृत्तियों से समाहित चित्रकला की स्थापना करने में कश्मीरी चित्रकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। गुलेर राजवंश के इतिहास ग्रंथ *'दिलीपरंजनी'* में चितेरों की उपस्थिति की पुष्टि होती है। तीर्थ स्थलों पर पण्डों द्वारा संरक्षित बहियों में दर्ज़ गुलेर के चितेरों के उल्लेख भी प्रामाणिक दस्तावेज़ हैं।

सम्राट अकबर के युग में मुगलों की शाही चित्रशाला में कश्मीरी चित्रकार कार्यरत थे। इन चित्रकारों के वंशजों ने शाहजहाँ कालीन चित्रित ग्रंथ *'पातसाहनामा'* के चित्रों की रचना में योग दिया था। इन कश्मीरी चित्रकारों के नाम प्रकाश में आ चुके हैं। मुगल सम्राट औरंगज़ेब के काल से ही मुगल चित्रकला का क्षय शुरू हो गया था, जिसके चलते शाही चित्रशाला के चित्रकारों को राजाश्रय प्राप्ति हेतु राजपूत शासकों का मुखापेक्षी होना पड़ा। औरंगज़ेब के राज्यकाल में चित्रकारों की घोर उपेक्षा के चलते, सम्भवतः उन्हें अवध और लाहौर के नवावों और धनिकों के संरक्षण में चित्रांकन करने को विवश होना पड़ा। इसी दौर में हसनू नामक कश्मीरी चित्रकार ने गुलेर में राजाश्रय प्राप्त करके वहाँ चित्रकला की नवीन शैली ईजाद की। पंडित सेऊ, बिलन्द (बिल्लू) और रुघु नामक चितेरे गुलेर में मुगल कला से अनुप्राणित

एक नई शैली में चित्रांकन करने लगे। ये सभी चित्रकार हसनू के पुत्र थे। हरिद्वार में गुलेर के पण्डा की बही में अंकित आलेख में 'बंस हसून का' लिखा होने से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि गुलेर में परवर्ती मुगल कला को स्थापित करनेवाला चित्रकार हसनू था।

अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में, उत्तर भारत में, विशेषकर पंजाब प्रांत की राजनीतिक दशा अच्छी नहीं थी। मुगल सम्राट मुहम्मद शाह ने लड़खड़ाते मुगल साम्राज्य को स्थिरता प्रदान की, परन्तु इसी काल में नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारियों ने भारत पर हमले किए। जान-माल की सुरक्षा की दृष्टि से, पंजाब अब सुरक्षित नहीं रहा था। कुछ कला विद्वानों का मत है कि 1739 ई. में नादिरशाह के बर्बर आक्रमण से फैली अशांति के कारण, मुगल शैली के चित्रकारों ने पहाड़ी राज्यों में शरण ली होगी। किन्तु 1736 ई. में कश्मीरी चित्रकार पंडित सेऊ के पुत्र माणक द्वारा हरिद्वार में गुलेर बही में दर्ज करवाए गए आलेख से ज्ञात होता है कि यह चित्रकार परिवार 1739 ई. से पहले दिल्ली अथवा लाहौर से स्थानांतरित होकर गुलेर में आ बसा था। गुलेर के पंडा की बही में चित्रकार माणक द्वारा वर्ष 1736 ई. में टांकरी लिपि में लिखे गए लेख में *'वासी गुलेर'* के लिखना महत्त्वपूर्ण है, जो इस चित्रकार के गुलेर में सक्रिय होने की पुष्टि करता है।

गुलेर के राजा दिलीप सिंह और उनके कलानुरागी पुत्र बिशन सिंह और गोवर्धन चंद कला के महान संरक्षक थे। पंडित सेऊ राजा दिलीप सिंह के समय से ही राजाश्रित कलाकार था। वह अपने भाईयों सहित, मुगल कला से प्रभावित यथार्थवादी चित्रशैली में चित्रांकन करता था। उसके दो भाई बिल्लू और रुघू गुलेर दरबार के प्रतिष्ठित चित्रकार थे। इन दोनों चित्रकारों के पुत्र रयाल, टेढ़ा और पुन्नू भी चित्रकारी में निष्णात थे।

पंडित सेऊ के दो पुत्रों, माणक व नैनसुख तथा इन दोनों महान चितेरों के वंशधरों ने न केवल काँगड़ा घाटी, बल्कि अधिकांश पहाड़ी राजदरबारों में अपनी चमत्कारी तूलिका के बल पर राजाश्रय प्राप्त कर, कला की महान सेवा की। 1725 ई. से लेकर 1775 ई. तक गुलेर राज्य में कला साधना का एक व्यापक दौर रहा, जिसमें कलावंतों की तूलिका से एक से बढ़कर एक नयनाभिराम चित्रों का सृजन हुआ, जिन्हें पहाड़ी चित्रकला के अंतर्गत गुलेर शैली के नाम से ख्याति प्राप्त हुई। माणक के पुत्रों फत्तू और खुशाला तथा नैनसुख के पुत्रों कामा, निक्का, गोदू और राँझा आदि चित्रकारों ने चित्रकला के अपने घराने की विशेषताओं के आधार पर सैंकड़ों चित्रों का निर्माण किया। चित्रकार निक्का को चम्बा नरेश राज सिंह ने संरक्षण दिया था और चम्बा-काँगड़ा सीमा पर रिल्हू परगणा के अंतर्गत रजोल गाँव

में उसे जागीर (भूमि) प्रदान की थी। निक्का के पुत्र छज्जू, हरखू और गोकल भी राजा राज सिंह और उसके उत्तराधिकारी राजा जीत सिंह के आश्रय में चित्रांकन करते रहे। इस परिवार के सदस्य आज भी रजोल गाँव में रहते हैं। नैनसुख की लम्बी कलायात्रा जसरोटा के मियाँ जोरावर सिंह और उसके पुत्र मियाँ बलवंत सिंह के सान्निध्य में हुई। नैनसुख के अधिकांश चित्रों और रेखांकनों पर टांकरी लिपि में तिथि युक्त आलेख हैं, जिसके अध्ययन से नैनसुख की कला के क्रमिक विकास का पता चलता है। चित्रकार नैनसुख के ज्येष्ठ पुत्र निक्का और उसके चचेरे भाई वीरबल लाहौरी, भंवर तथा सिपाही भी चम्बा नरेश राज सिंह के आश्रय में चित्रांकन करते थे, जबकि नैनसुख का कनिष्ठ पुत्र राँझा और उसका पुत्र गुरसहाय बसोहली के राजा अमृत पाल के आश्रित चित्रकार थे।

हरिद्वार में पंडों के रिकॉर्ड से ज्ञात हुआ है कि गुलेर में चित्रकार पंडित सेऊ के परिवार के अतिरिक्त कुछ और भी चित्रकार परिवार मौजूद थे। भारत कला भवन वाराणसी के संग्रह में उपलब्ध गोवर्धनधारी कृष्ण को गुलेर शैली में चित्रित किया गया है। 19वीं शती के प्रारम्भिक चरण में अंकित इस चित्र को डॉ. मोहिन्द्र सिंह रंधावा ने प्रकाशित किया था और चित्र के पीछे लिखे लेख के अनुसार यह चित्रकार 'मजनू' द्वारा रचित है।

तीर्थ स्थलों में पहाड़ी चित्रकारों की वंशावलियों के शोध के दौरान एक आलेख ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था, जिसमें भजनू नामक गुलेर के चितेरे का उल्लेख था। गोवर्धनधारी कृष्ण के जिस चित्र का डॉ. रंधावा ने उल्लेख किया था, वास्तव में उसके रचनाकार का नाम 'भजनू' था। हिन्दी देवनागरी लिपि में 'म' और 'भ' समान होने के कारण उन्होंने भ्रमवश भजनू को मजनू पढ़ लिया था। हरिद्वार में पंडा सरदार रामरखा की गुलेर बही में भजनू चितेरे से सम्बंधित आलेख निम्न प्रकार से है–

त्रखाण चितेरे–वासी बासे के
लिखतं खींदो वा पीरो वा सरधा बेटे बरडू के।
पोते मकरंदे के। पड़पोते सुधू के।
बंस छबीले का।
गुरदिता व गुरध्यान वा लहणू वा भोपाला बेटे खींदो के।
खींदु श्री गंगा जी आया।
फुल भाई भजने के वा लुहार गुसाऊँ के ल्याया।
कुंभ 1912 (सन् 1855 ई.)

उपरोक्त लेख से भजनू चित्रकार की मत्यु तिथि का पता चलता है। भजनू की अस्थियाँ लेकर उसका भाई खींदू वर्ष 1855 ई. में कुंभ मेला में गुलेर से हरिद्वार

तीर्थ पर आया था। उपर्युक्त लेख के अनुसार भजनू चित्रकार की वंशावली निम्न प्रकार से है–

छबीला—►सुधू—►मकरंदा—►बरड़ू

बरड़ू—►सरधा, खींदू, पीरो, भजनू (देहांत 1855 ई.)

हरिपुर-गुलेर प्रवास के दौरान पड़ताल करने पर पता चला कि उक्त चित्रकार परिवार हरिपुर किले के पीछे स्थित बासा नामक गाँव में रहता था। बाद में इस परिवार के सदस्य समीपवर्ती गाँव महेवा में बस गए थे।

हरिद्वार और पिहोवा के पंडों के अभिलेखों में गुलेर के अनेक चित्रकारों के उल्लेख दर्ज़ हैं, जो कालांतर में गुलेर से रिलहू क्षेत्र में बस गए थे। सम्भवतः राजा प्रकाश चंद के राज्यकाल में जब गुलेर राज्य को आर्थिक विपन्नता का सामना करना पड़ा तो गुलेर के अधिकांश चित्रकारों ने चम्बा नरेश राज सिंह (1764-94ई.) का राजाश्रय प्राप्त किया था। कलाप्रेमी राजा राजसिंह ने उदारतापूर्वक गुलेर के अनेक चित्रकारों को काँगड़ा सीमा पर चम्बा के गाँव रजोल, नेरटी, कुठार, बजरेड़, जसोर, जटोली, चड़ी, दाड़ी, चचीहा आदि गाँवों में जागीर प्रदान की थीं। गुलेर के चित्रकार नैनसुख के पुत्र निक्का को रजोल गाँव में जागीर दी थी।

गुलेर दरबार में चित्रांकन करनेवाले चित्रकारों का एक परिवार गुलेर में था। इस परिवार में कई प्रतिष्ठित चित्रकार हुए, जिनकी कला प्रतिभा से आकर्षित होकर महाराजा पटियाला ने उन्हें संरक्षण दिया था। बीवा, रोडू व जाहरू पटियाला में रहते हुए भी गुलेर शैली में चित्रांकन करते रहे। बीवे का बेटा घाथू राम गुलेर दरबार हेतु 19वीं शती के मध्य तक चित्रांकन करता रहा। घाथू राम द्वारा हस्ताक्षरित तिथियुक्त कई चित्र अब राजकीय संग्रहालय, चंडीगढ़ में संगृहीत हैं।

काँगड़ा के चित्रकार

काँगड़ा राज्य में चित्रकारों का अलग घराना था। यहाँ चित्रण शैली गुलेर शैली से नितांत भिन्न थी। काँगड़ा राजघराने के चित्र संग्रह के अध्ययन से विदित होता है कि राजा घमण्ड चंद (1748-73) के शासनकाल में ही काँगड़ा राज्य में चित्रांकन परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था। काँगड़ा दरबार हेतु चित्रांकन करनेवाले चित्रकार उस्तेढ़, समलोटी, चड़ी और रिल्हू किला काँगड़ा में बसे थे। बसिया और धुम्मन समकोटी के चितेरा परिवार के वरिष्ठ कलाकार हुए हैं। इनमें पुरखू नामक चित्रकार संसार चंद के दरबार का एक प्रतिष्ठित चितेरा था। इस चित्रकार द्वारा बनाए गए संसार चंद के अनेक शबीह चित्र उपलब्ध हैं। पुरखू ने अपने चित्रों में असंख्य मानवाकृतियों को एक साथ चित्रित करके अपने कला-कौशल का परिचय दिया है। चाहे वे होली के दृश्य हों, दरबार की सभा हो अथवा युवराज अनिरुद्ध चंद के विवाह की शोभायात्रा।

जन्माष्टमी और नाच-गाने के दृश्य भी उसने बड़े कौशल के साथ चित्रित किए हैं। पुरखू के चित्रों से उसके घराने की चित्रकला के कुछ रोचक तथ्यों का पता चलता है। उसने बड़े आकार के चित्रों को बनाने में रुचि दर्शायी, जिसमें असंख्य मानवाकृतियों को संतुलित ढंग से संयोजित किया गया है। उसके चित्रों में भू-दृश्यों की अपेक्षा भवनों का स्थापत्य वैभव हावी है। पुरखू द्वारा बनाए गए चित्र आज काँगड़ा शैली के पर्याय बन चुके हैं। इन चित्रों में पुरुषों को कूलेदार पगड़ी और लम्बा जामा पहने चित्रित किया गया है। नारी आकृतियों के चित्रण में चोली-घाघरे की अपेक्षा पेशवाज को अधिमान दिया गया है।

पुरखू के चित्रों को पहली बार 1870 ई. में लाहौर में आयोजित एक प्रदर्शनी में प्रशंसा मिली थी, जिसमें उसके रंगों की ताज़गी एवं वर्ण संयोजन के माधुर्य को सराहा गया था। इतने बड़े पैमाने पर चित्र-शृंखलाएँ बनाने के लिए सम्भवतः उसके परिवार के अन्य सदस्य भी पारिवारिक चित्रशाला में मिलकर कार्य करते थे। पुरखू के परिवार के किसी सदस्य द्वारा हस्ताक्षरित चित्र अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। पंडों के अभिलेखों से विदित होता है कि पुरखू के पिता धुम्मन और पितामह धाठा थे।

पुरखू का भाई बुधु भी एक कुशल चित्रकार था। पारिवारिक चित्रशाला में पुरखू के चार पुत्र—रुल्दू, रामदयाल, रामकिसन और चंदन भी सामूहिक रूप से चित्रांकन करते थे।

पिहोवा में पंडे की कांगड़ा बही में पुरखू चित्रकार की वंशावली निम्न प्रकार से वर्णित है—

समलोटी के चतहरे
ज्वाला बुधु का। पोता धुमू का। चंदन रामदयाल रामकिसन
रूलदू पुरखू के। सुखानंद ज्वाले का। इन्द्रमोहन रामदयाल का।
ज्वाला आया। माता के फुल

इस वंशावली का क्रम यह है—

धारू→धुमन→पुरखू, वुधू , रत्तू
पुरखू→चंदन, रामदयाल, रामकिसन, रूल्दू

काँगड़ा के महाराजा संसार चंद के पतन के पश्चात् पुरखू ने लाहौर दरबार में सिख महाराजा रणजीत सिंह का आश्रय प्राप्त किया था। पुरखू के पुत्र चंदन तथा रूल्दू जम्मू दरबार के प्रतिष्ठित चित्रकार थे।

काँगड़ा के किला के साथ पुराना काँगड़ा में भी एक चित्रकार परिवार बसा था, जिसमें सजनू नामक प्रसिद्ध चित्रकार हुआ। कांगड़ा के महाराजा संसार चंद ने जब मण्डी के राजा ईश्वरी सेन को नज़रबंद करके नादौन में रखा था तो चित्रकार

सजनू मण्डी नरेश के सम्पर्क में आया। बाद में गुरखा योद्धा अमर सिंह थापा ने जब काँगड़ा पर चढ़ाई करके संसार चंद कटोच को निस्तेज़ किया तो संसार चंद ने ईश्वरी सेन को मुक्त कर दिया। ईश्वरी सेन ने तब चित्रकार सजनू को राजाश्रय दिया था। सजनू द्वारा मंडी नरेश ईश्वरी सेन के बनाए शबीह चित्रों के अतिरिक्त बारामासा और नायिका भेद विषयक चित्र सजनू द्वारा हस्ताक्षरित हैं, जो अब चण्डीगढ़ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सजनू के चित्रों में सूक्ष्म अंकन और रंगों के मृदु वर्ण विधान का अद्भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। हरिद्वार में पण्डा की काँगड़ा बही में सजनू के पारिवारिक सदस्यों के सम्बंध में निम्नलिखित आलेख दर्ज़ है–

जात चितेरे
वासी किला काँगड़ा के। लिखंत सजनू बेटा मोती का।
पोता हिमतू का। पड़ोता छबीले का।
लिखंत माई डीन्हीं गंगा जी असनान को आई।
संवत 1849 (1792 ई.)

उपर्युक्त आलेख के अनुसार सजनू की वंशावली इस प्रकार है–

छबीला→हिमतू →मोती→सजनू
सजनु →गुलजारी, रामदयाल, कुन्दू, कंचनू

सजनू के पुत्र जम्मू के महाराजा के राजाश्रय में चित्रांकन करते थे। कंचनू नामक चित्रकार की शबीह राजकीय संग्रहालय, चण्डीगढ़ में संगृहीत है, जिससे कंचनू के जम्मू दरबार के चितेरा होने की पुष्टि होती है।

काँगड़ा राज्य के अन्तर्गत चित्रकारों के कुछ घराने प्रसिद्ध रहे हैं। इन चित्रकारों के परिवार किला काँगड़ा, समलोटी, उस्तेढ़, रजोल, चड़ी, नेरटी, बजरेड़, कुठार, चचींहां और जसोर आदि गाँवों में स्थापित थे और वे काँगड़ा एवं अन्य पहाड़ी राज्यों के लिए चित्रांकन किया करते थे।

हरिद्वार आदि तीर्थस्थानों में काँगड़ा घाटी के चित्रकारों की वंशावलियों से इस चितेरा परिवार के सदस्यों से सम्बंधित बहुत-सी सूचनाएँ प्रकाश में आई हैं। काँगड़ा के समीप चड़ी नामक स्थान में भी चित्रकारों का एक प्रतिष्ठित परिवार था, जो काँगड़ा और चम्बा दोनों राज्यों के शासकों के लिए चित्रांकन करता था। ये चित्रकार व्यक्तिचित्र के अंकन में निपुण थे। इस चित्रकार परिवार के कुछ सदस्य कोकू, फौजू, पराग चंद, उत्तम और हरजी काँगड़ा दरबार के प्रसिद्ध चित्रकार थे, जिनके हस्ताक्षरित चित्र संयोग से राजकीय संग्रहालय, चंडीगढ़ में उपलब्ध हैं।

चम्बा के रंग

डॉ. विश्व चंद्र ओहरी

चम्बा रूमाल का नाम लेते ही कपड़े पर की गई पहाड़ी चित्रकला जैसा प्रतिरूप उभर कर हमारे सामने आ जाता है। एक विद्वान का कथन है कि चम्बा रूमाल सूई के साथ की गई चित्रकला है। इस रूमाल के साथ प्रयुक्त 'चम्बा' शब्द हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों तथा जम्मू-कश्मीर में गृहणियों द्वारा कपड़े पर की जानेवाली विशेष प्रकार की कशीदाकारी के कारण जोड़ा गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में चम्बा में कशीदाकारी की कला की लोकप्रियता ही इसमें चम्बा को जोड़ने का कारण रहा होगा। इसीलिए इसे *'चम्बा रूमाल'* का नाम दिया गया। संभवतः डॉ. जे.पी.एच. फोगल प्रथम विद्वान रहे हैं जिन्होंने कपड़े पर की गई इस कशीदाकारी के सौंदर्यबोधी महत्त्व को पहचाना। फोगल ने चम्बा रूमाल के चार सुन्दर नमूने लिए और उन्हें भूरि सिंह संग्रहालय के संग्रह में शामिल किया। उन्होंने विद्वतापूर्वक इस संग्रह का एक कैटालॉग लिखा, जिसे 1909 में प्रकाशित किया गया था।

चम्बा के राजा सर भूरि सिंह (1904-1919) ने कपड़े पर इस प्रकार की कशीदाकारी के अनेक रूमाल बनवाए और 1907 तथा 1911 में हुए दिल्ली दरबार के अवसर पर अपने साथ दिल्ली ले गए। प्रतीत होता है कि उन्होंने डॉ. फोगल से प्रेरित होकर ही ऐसा किया। ऐसी भी जानकारी है कि स्थानीय दस्तकारी, विशेषतः काष्ठकला की कुछ अन्य कृतियाँ भी चम्बा के राजा अपने साथ दिल्ली ले गए थे। चम्बा रूमाल समेत वे कृतियाँ वहाँ पर प्रदर्शित की गई होंगी और विशेषकर ब्रिटेन से आए विशिष्ट व्यक्तियों को भेंट की गई होंगी। इसी उद्देश्य से राजा इन्हें दिल्ली ले गए थे।

दरबारों के लिए चम्बा रूमाल तैयार करवाने से सम्बंधित रुचिकर जानकारी के अनुसार चम्बा रूमाल तैयार करने के प्रयोजन से वर्ष 1907 में राजा

द्वारा 20 ऐसी महिलाओं को नियुक्त किया गया था जो इस कला में निपुण थीं। उनको दो समूहों में बाँटा गया और उन्होंने तब 40 गज़ लम्बे तथा 27 इंच चौड़े कपड़े पर कशीदाकारी की, जिसे वर्गाकार तथा आयताकार रूमालों के रूप में अनेक टुकड़ों में काटा गया था। यह कार्य दो मास तक निरंतर चलता रहा था। चम्बा नगर में उत्तम गुणवत्ता की कशीदाकारी करने में इतनी संख्या में दक्ष महिलाओं का होना इस बात का द्योतक है कि वास्तव में इस कला से जुड़ी महिलाओं की संख्या बहुत अधिक रही होगी। बीस महिलाओं के एक समूह ने पंडित मगनू के घर पर काम किया, जहाँ पर अब गुरद्वारा भवन है और दूसरे समूह ने सोहणू तरखान (बढ़ई) के घर पर काम किया। सोहणू तरखान चम्बा नगर के दक्ष पहाड़ी चितेरों का अंतिम वंशज था। सोहणू रूमाल पर ड्राईंग बनाने के साथ-साथ रंग संयोजन में भी महिलाओं का मार्गदर्शन करता था।

राजकीय कोष से महिलाओं को प्रतिदिन निःशुल्क भोजन के साथ-साथ एक रुपए की दैनिकी प्रदान की जाती थी। चितेरे सोहणू को क्या दिहाड़ी दी जाती थी, इस बारे जानकारी उपलब्ध नहीं है। कार्यरत महिलाएँ ब्राह्मण अथवा तरखान (बढ़ई) परिवारों से सम्बंध रखती थीं, यह उनके द्वारा दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर काम करने के तथ्य से भी स्पष्ट होता है। हालाँकि यह एक स्थापित सत्य है कि यह कला चम्बा के राजघरानों की महिलाओं में भी लोकप्रिय थी, परन्तु किसी भी राजपूत महिला का नाम इस कला के साथ जुड़ा हो, ऐसी जानकारी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि उन सभी बीस महिलाओं के नाम तो उपलब्ध नहीं, तथापि कुकी और दौलती बढ़ियाइनें; जै देई, भजनू, फिंगो और गोधा पंडताईनें; बंटी और बडू परिवार तथा कश्मीरी पंडित परिवार की सुन्दरू आदि जाने-माने नाम हैं।

कुकी बढ़ियाइन कटाई तथा गोटा कार्य के लिए भी विख्यात थी। दौलती चम्बा नगर में स्कॉटलैंड मिशन गिरिजाघर द्वारा राज्य की मदद से चलाई गई कन्या पाठशाला में सिलाई तथा कशीदाकारी की शिक्षिका थी। वास्तव में राज्य कन्या विद्यालय तथा मिशन कन्या पाठशाला, दोनों में विद्यार्थियों को इस कला का प्रशिक्षण देने के लिए सदैव शिक्षिकाएँ रहती थीं।

पंडित मगनू के घर काम करनेवाले समूह की श्रीमती मनेशी देवी और लच्छो, दोनों उस समय दस वर्ष की उम्र की थीं, वे रेशम के धागे लपेटने का कार्य करती थीं। उनमें प्रत्येक को प्रतिदिन दो आना मज़दूरी दी जाती थी।

स्पष्ट है कि 1907 के दिल्ली दरबार में कशीदाकारी युक्त कपड़े के इन टुकड़ों की बड़ी प्रशंसा हुई और सम्भवतः चम्बा के राजा 'चम्बा रूमाल' के कुछ पुरातन नमूने उपहार-स्वरूप भेंट करने के लिए अपने साथ दिल्ली ले गए होंगे। यह शायद पहला अवसर था, जब कपड़े के टुकड़ों पर की गई इस कशीदाकारी को सार्वजनिक सम्मान

मिला और इस प्रकार इस कला के साथ चम्बा का नाम जुड़ गया।

इससे पूर्व कि चम्बा में इस कलात्मक गतिविधि से सम्बंधित अन्य रुचिपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया जाए, इस प्रकार का एक अन्य प्रसंग भी उललेखनीय है। दिल्ली में 1911 में एक बड़ा राज्याभिषेक दरबार हुआ, उस अवसर पर भी अनेक 'चम्बा रूमाल' तैयार करवाए गए और उन्हें प्रदर्शन व भेंट देने के उद्देश्य से दिल्ली ले जाया गया। उस समय तक भी चितेरा सोहणू तरखान सक्रिय था, परन्तु अब रूमालों पर ड्राईंग बनाने में मगनू तरखान की बहन माती, जो पारम्परिक चितेरा परिवार से सम्बंध रखती थी, उसकी मदद करती थी। सोहणू तरखान की बहन गिजनी ने भी कशीदाकारी का कार्य किया। कुछ अन्य शिल्पियों में, जिन्होंने 1911 में यह कार्य किया, गौरी सुनियारी, नानो और हाटू (सिख परिवार से सम्बंध रखनेवाली बहनें), रामू और लिख्खी पंडिताइनें, सुन्दरू और जान्नौ पुजियालीस, केसरी बढ़ियाईन तथा भटियात की पार्वती के नाम उल्लेखनीय हैं। चम्बा के राजा के प्रतीक चिह्न, सूर्य की आकृतियुक्त ध्वज को भी फूल-पत्तियों की बेलों के डिज़ाइन में कशीदा गया था।

यह विदित ही है कि पंजाब के साथ लगते इस पहाड़ी क्षेत्र में अनेक छोटी-छोटी जागीरें थीं। महाराजा रणजीत सिंह के अधीन सिक्ख शासन के अस्तित्व में आने पर अधिकतर पहाड़ी राज्यों को लाहौर राज्य में मिला दिया गया और उनके शासकों का दर्जा घटाकर उन्हें मात्र जागीरदार की हैसियत दी गई। हालाँकि बाद में उनकी राजसी उपाधियाँ बहाल कर दी गईं और उनके क्षेत्र ब्रिटिशों द्वारा शासित होने लगे। सतलुज के पश्चिम में अवस्थित क्षेत्रों में सुकेत, मण्डी और चम्बा ही मात्र तीन ऐसे राज्य थे जो लाहौर राज्य में मिलाने से बच गए थे।

सन् 1948 में पंजाब के पहाड़ी राज्यों तथा शिमला क्षेत्र की रियासतों को मिलाकर भारत संघ के अन्तर्गत हिमाचल प्रदेश राज्य के गठन तक उक्त तीन राज्यों ने अपना अलग अस्तित्व बनाए रखा। इस संदर्भ में एक अन्य पहाड़ी राज्य बिलासपुर, जिसके दोनों ओर सतलुज बहती है, वहाँ भी पहाड़ी शैली के चित्र बनाने का प्रचलन था। मण्डी, सुकेत और बिलासपुर में प्रचलित कशीदाकारी की शैली चम्बा रूमाल से भिन्न थी। चम्बा रूमाल बनाने की तकनीक का ज्ञान तथा कहीं-कहीं इन्हें बनाने का कार्य इन राज्यों में होता भी रहा होगा, परन्तु पहाड़ी शैली में चित्र बनाने की गतिविधियों में तेज़ी से कमी आने या इन गतिविधियों के बंद हो जाने के फलस्वरूप वहाँ पर 'चम्बा रूमाल' तैयार करने की कारीगरी पूरी तरह से समाप्त हो गई होगी।

चम्बा रूमाल की तकनीक से बने कुछ रूमाल अर्की (बाघल) से भी प्राप्त हुए हैं, परन्तु इन रूमालों पर उकेरी गई आकृतियों से प्रतीत होता है कि इन्हें बीसवीं

शताब्दी के आरम्भ में बनाया गया है और उनकी ड्राईंग महिलाओं ने स्वयं बनाई होगी। उन पर की गई कशीदाकारी की आकृतियाँ लोकाधारित हैं तथा देखने में भी कुछ अजीब-सी लगती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजप्रश्रय बंद होने के फलस्वरूप कांगड़ा, गुलेर, नूरपुर, बसोहली आदि पूर्व रियासतों में भी चम्बा रूमाल की शैली की कशीदाकारी की गतिविधियाँ धीरे-धीरे कम होती गई। उन्नीसवीं शताब्दी चम्बा रूमाल तैयार करने का सबसे अधिक सर्जक काल रहा है। परन्तु ऊपर लिखित राज्यों में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व भारी राजनीतिक बदलाव आया। इन कारणों से भी स्पष्ट होता है कि ये कलात्मक गतिविधियाँ केवल चम्बा में ही बनी रहीं, जो आज तक भी चल रही हैं और इन्हें पर्याप्त प्रश्रय भी मिल रहा है। डॉ. फोगल तथा राजा सर भूरि सिंह द्वारा इस कला के प्रति पुनः रुचि उत्पन्न की गई। बीसवीं शताब्दी के लगभग दूसरे दशक में तैयार किया गया एक आयताकार *'चम्बा रूमाल'* भूरि सिंह संग्रहालय के संग्रह में है। इस रूमाल पर कृष्ण की बाल-लीलाओं के दृश्य कशीदे गए हैं। इसकी ड्राईंग सम्भवतः पंडित रामदास द्वारा बनाई गई होगी, जो उस समय संग्रहालय में सेवारत थे। आकृति, संरचना तथा रंग-संयोजन से प्रतीत होता है कि इस रूमाल को तैयार करने के प्रयोजन से संग्रहालय के संग्रह में से *लहरू भागवत चित्रमाला* का सहारा लिया गया होगा। कार्य की गुणवत्ता उत्तम है। इसके लिए हाथ से कताई किए तथा हथकरघे पर बुने कपड़े का प्रयोग किया गया है।

इस कला से सम्बंधित कुछेक और बिन्दु उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार से प्राप्त शोहरत चम्बा में इस कार्य को लोकप्रिय बनाने में बड़ी मददगार साबित हुई है। चितेरों की राय, विशेषकर रंग-संयोजन के बारे, प्रत्येक व्यक्ति हासिल नहीं कर पाता। इसलिए अब महिलाओं ने स्वयं रंग-संयोजन करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु इसमें सौंदर्यबोध का पूरा ध्यान रखा गया है। कभी-कभी तो वे रोचक एवं सुस्पष्ट भाव का सृजन सफलतापूर्वक कर देती हैं। कभी-कभी उन्हें रंगों के चयन में कठिनाई का सामना करना पड़ता है और वे– *'मेरे रूमाले दी बन्नी रुकी गई'*, कुछ ऐसे शब्द कहते हुए, इस कला में दक्ष महिलाओं के पास पहुँच जाती हैं और कशीदाकारी को पूरा करने के लिए उनका मार्गदर्शन लेती हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग डेढ़ दशक बाद कलात्मक कार्य पर हिमाचल प्रदेश उद्योग विभाग तथा हस्तशिल्प एवं हथकरघा निगम का ध्यान गया और चम्बा में 'चम्बा रूमाल प्रशिक्षण एवं निर्माण केन्द्र' खोला गया, जो आज भी चल रहा है। इसमें छात्राओं को प्रशिक्षण दिया जाता है। सर्वप्रथम श्रीमती महेशी देवी, जिसकी आयु उस समय साठ से ऊपर थी, उसे कशीदाकारी शिक्षिका तथा श्री प्रेमलाल, जो चम्बा में विख्यात गुज़राती चितेरा परिवार का वंशज था, उसे डिज़ाईनर नियुक्त

किया गया था। उन्होंने कई वर्षों तक कार्य करते हुए अनेक महिलाओं को इस कला में दक्ष बनाया।

1. लेखक श्रीमती महेशी देवी का आभार प्रकट करता है, जिन्होंने इस लेख के लिए सूचना प्रदान की।

2. मगनू की हस्ताक्षरित पेंटिंग विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूज़ियम के संग्रहण में है। (डब्ल्यू.जी. आर्चर : इण्डियन पेंटिंग्ज फ्रॉम द पंजाब हिल, पार्ट-1, नं. 62 पी. 91)

3. यह परिवार उन्नीसवीं शताब्दी में पंजाब से चम्बा आया था। चाँदी और सोने से तैयार रंगद्रव्य से कपड़े पर ब्लॉक प्रिंटिंग उनका पेशा था।

4. मण्डी, सुकेत तथा बिलासपुर में तम्बूला चढ़ाने के लिए प्रयोग किए जानेवाले रूमालों को *हथापड़* कहा जाता है। यहाँ की आकृतियाँ अधिक लोकप्रिय प्रतीत नहीं होतीं। केवल फूल-पत्तियों के चित्र तथा रूढ़ शैली के पक्षियों की कशीदाकारी ही रूमालों पर की जाती थी, जैसा कि आज उपलब्ध अनेक नमूनों से परिलक्षित होता है।

5. लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व यह रूमाल चम्बा में संग्रहालय के लिए लिया था।

6. इस बात की जानकारी उपलब्ध नहीं है कि स्थानीय उत्पादकों द्वारा साधारण कपड़े की कितनी माँग पूरी की जाती थी और कितना कपड़ा साथ लगते क्षेत्रों से मंगवाना पड़ता था। नगर का दक्षिणी भाग जुल्कारी मुहल्ले के नाम से जाना जाता था, क्योंकि वहाँ पर बुनकर रहते थे।

7. कशीदे हुए रूमालों के रंग-संयोजन पर कांगड़ा में भी विशेष ध्यान दिए जाने की जानकारी मिली है। कपड़े पर किए डिज़ायनों पर कशीदाकारी आरम्भ करने से पूर्व कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़ों पर भिन्न-भिन्न रंगों के रेशमी धागे से कशीदाकारी की जाती थी। यह प्रक्रिया 'चस लगाणा' कहलाती थी। इस प्रकार रंगों में बदलाव कर अंतिम रंग-संयोजन निर्धारित किया जाता था। यह प्रक्रिया, विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी में पहाड़ी चित्रकारी के लिए अपनाई जानेवाली प्रक्रिया से मेल खाती है, जो आज भी बरकरार है। रंग संयोजन के लिए पहले ब्रश से भिन्न-भिन्न रंगों से कपड़े पर छोटे-छोटे निशान लगाए जाते हैं। आमतौर पर यह माना जाता है कि कनिष्ठ चितेरों द्वारा रंग भरने हेतु, उनके मार्गदर्शन के लिए, रंगों के यह निशान मुख्य चितेरे द्वारा लगाए जाते हैं। इस प्रकार लगाए गए रंग के निशानों से चितेरे पूरे रंग-संयोजन की संकल्पना कर सकते हैं और रंग संयोजन में यथोचित परिवर्तन भी किया जा सकता है।

8. महेशी देवी को वर्ष 1965 में 'मास्टर क्राफ्टसमैन का नेशनल अवार्ड' प्रदान किया गया था।

हिमाचल का कला वैभव और समकालीन भारतीय कला

प्रयाग शुक्ल

निश्चय ही हिमाचल की कला में ऐसा बहुत कुछ है, जिसका स्मरण हमेशा किया जाएगा। इसमें हिमाचली रियासतों में पनपनेवाली विभिन्न पहाड़ी चित्रशैलियाँ– काँगड़ा, गुलेर, नूरपुर, चम्बा, मंडी, कुल्लू आदि हैं। शिल्प के क्षेत्र में कांस्य, प्रस्तर और काष्ठ मूर्तियाँ हैं। चम्बा-रूमाल हैं और साथ ही हैं नाट्य-संगीत आदि की लोकप्रचलित परम्पराएँ। और हैं बौद्ध मठों में पलने-प्रसनेवाले चित्र, मूर्तियाँ, पांडुलिपियाँ आदि। पर, इस आलेख का प्रयोजन इस विपुल कला धरोहर की सूची बताना नहीं है, इस ओर संकेत करना है कि हिमाचल की क्लासिकी, लोक और पारम्परिक कलाओं में ऐसा बहुत कुछ रहा है, और है, जिससे कुछ प्रमुख भारतीय कलाकारों ने अपना एक रिश्ता बनाया है और उस रिश्ते ने समकालीन भारतीय कला को, कई अर्थों में सम्पन्न किया है। इस रिश्ते की कोई 'प्रत्यक्ष', सीधी, रूपरेखा हम भले न बना सकें, पर लाक्षणिक स्तर पर वह कहीं न कहीं दिखती ज़रूर है।

यहाँ यह याद करना भी प्रासंगिक है कि अगर हिमाचल की पारम्परिक रूपंकर कलाओं ने भारतीय समकालीन कला को प्रभावित किया है, उसे ऊर्जा दी है और एक नयी चित्र-भाषा की रचना में सहयोग दिया है तो उसके जन-जीवन से भी कलाकारों ने बहुत कुछ ग्रहण किया है। इस सिलसिले में अमृता शेरगिल अग्रणी रही हैं, जिनका *'तीन पहाड़ी युवतियाँ'* शीर्षक चित्र सहज ही याद आता है। कई अन्य चित्र भी। भला, इसमें क्या संदेह कि हिमाचल प्रदेश में रहे बिना, अमृता की कला में वे रंग-रूप शामिल न होते, जो कि अंततः हुए। याद इसकी भी करनी ही चाहिए कि कुछ समकालीन/आधुनिक भारतीय कलाकारों ने हिमाचल के लोक जीवन से, उसके लोक-संगीत, नृत्य आदि से भी, एक आत्मीय सम्बंध कायम किया है, जो उनकी चित्र-रचना में प्रतिफलित या प्रतिबिंबित हुआ है या कहें इस सम्बंध

के कारण उनके कुल व्यक्तित्व में जो चीज़ें आकर बसी हैं, उन्होंने कई प्रकार से उनकी चित्रकला में एक जगह बनायी है। इस सम्बंध/संदर्भ में चित्रकार मनजीत बाबा का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। वह हिमाचल के जन-जीवन से गहरा लगाव रखते थे। उन्होंने हिमाचल के विभिन्न अँचलों की यात्राएँ की थीं। डलहौजी में उन्होंने काफी समय बिताया, जहाँ उनके परिवार का एक होटल है। मनजीत को संगीत से भी गहरा लगाव था। पहाड़ी चित्र-शैलियों से ही नहीं, पहाड़ी लोकधुनों तक से वे वाकिफ थे। व्यक्ति जहाँ का होता है, वहाँ की प्रकृति का, जनजीवन का, कुछ न कुछ असर उसकी रचना पर पड़ता ही है।

देश के दो अन्य बड़े समकालीन कलाकारों रामकुमार और स्वामीनाथन का भी एक विशेष सम्बंध हिमाचल से रहा है। दोनों शिमला में बड़े हुए, स्कूली पढ़ाई भी यहीं की और दोनों की ही कला में हिमाचल किसी न किसी रूप में मौजूद है। रामकुमार की शुरू की चित्रकृत्तियों में पहाड़ी घरों-मकानों की एक स्मृति है और अनंतर उनकी सैरों (लैंडस्केप्स) में जो पहाड़ों, खड्डों के-से आकार हैं, उनमें भी कुछ में हम हिमाचल के 'प्रभाव' को ढूँढ सकते हैं। मैंने 'शिमला संग्रहालय' पर लिखते हुए एक बार यह नोट किया था : 'यहाँ रामकुमार का एक बड़ा कैनवास भी है। यह एक मूल्यवान कृति है... उनके चित्रों में आकाश, नदी, पहाड़, शिलाखंड, रास्ते, पगडंडियों को हम पढ़ सकते हैं। उस सौंदर्य और निर्मल प्रतीति की आकांक्षा को, जो उनमें बसी रहती है। रामकुमार का बचपन और किशोरावस्था शिमला से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। इसलिए स्वयं शिमला में उनके किसी चित्र को देखना, मानों एक संस्मरणीय अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। रामकुमार कथाकार भी हैं और उनकी कुछ कहानियों में भी हिमाचल है। स्वामीनाथन के आरंभिक चित्रों का जो हाशिया रहा है, जो रंग रहे हैं, और पेड़-पहाड़-चिड़ियावाली चित्रशृंखला में जो आकारिक रूप रहे हैं, खुला आकाश रहा है, वे भी कहीं न कहीं हिमाचली कला वैभव से जुड़ते हैं। वे भी पहाड़ी मिनियेचर चित्रों के रूप-रंगों के सारग्राही रहे हैं।'

स्वामीनाथन ने हिमाचल के कोटखाई में एक घर-स्टूडियो बनाया था और वहाँ जाकर वे कभी-कभी रहते थे। एक यात्रा में मैं भी उनके साथ था। उनके घर-स्टूडियो के सामने ही गिरिगंगा नदी बहती थी। मुझे याद है उनके घर की बाल्कनी में बैठे-बैठे मैं ऊपर आकाश में उड़ती हुई चिड़िया की छाया को धूप-हवा में तैरते हुए देखता था और अनायास ही मुझे स्वामीनाथन के चित्रों की चिड़िया और उसके छाया-रूपों की याद हो आती थी। मैंने एक बार 'स्वामीनाथन की चिड़िया' शीर्षक से एक लेख, मसूरी की एक यात्रा के दिनों में लिखा था, उसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ : 'मैंने पाया कि स्वामीनाथन की चिड़िया-छवि साथ चली आ रही है। कारण शायद यह भी रहा हो कि दूर-पास पहाड़ियाँ दृष्टि परिधि में थीं।

स्वामीनाथन के चित्रों की चिड़िया किसी शिलाखंड को भी साथ लेकर चलती थी और पहाड़, पहाड़ियों के आकार तो उनके चित्रों में हैं ही।... सूरज के साथ दिन शुरू होता है। अनंत स्पेस में। कुल सृष्टि में। अनंत काल में। हम सब उसके अनुसंधानी बनते हैं। वह चिड़िया भी अपने 'अनुसंधान' में निकली है। वह चिड़िया मानो हमीं हैं। यही मैंने एक बार फिर पहचाना मसूरी रोड पर, उस सुबह और वह स्मृति छाया भी तैर आयी, जब वर्षों पूर्व स्वामी के साथ कोटखाई (हिमाचल प्रदेश) गया था। वहाँ गिरिगंगा के किनारे सेवों के बगीचे के बीच यह चर्चा की थी कि कई बार किसी चिड़िया से भी पहले हमें उसकी परछाईं दिखती है।'

किसी भी अच्छे कलाकार के यहाँ किसी देश-प्रदेश-स्थल, प्रकृति के प्रभाव प्रायः सीधे-सीधे घटित न होकर रूपांतरित होकर ही आते हैं। इसीलिए प्रभावों की, किसी धरोहर के स्पर्शों की, किसी रंग आभा या रूप आभा की बात हमें 'रूपांतरण' के माध्यम से ही समझनी चाहिए। विशेष रूप से उन कलाकारों के यहाँ, जो यथार्थवादी शैली में काम नहीं करते, एक चित्र-भाषा की अपनी ही तरह से खोज करते हैं और जिनका अभिप्राय सीधे-सीधे किसी विषय या थीम का दृश्यांकन नहीं होता। रामकुमार, स्वामीनाथन और मनजीत बावा के यहाँ हिमाचली कला के, वहाँ की प्रकृति के, जन-जीवन के प्रभाव या स्पर्श, सीधे-सीधे प्रतिबिम्बित या परिलक्षित नहीं होते। वे वहाँ एक सूक्ष्म अनुभूति या आधार की तरह ही मौजूद हैं, पर हैं। स्वयं अमृता शेरगिल के यहाँ ये प्रभाव उतने सीधे ढंग से नहीं आते, जबकि वे किसी हद तक तो यथार्थवादी शैली में भी काम करती रही हैं। उनके चित्रों में भी हिमाचल, उसकी प्रकृति, उसका जन-जीवन, उसकी लघु चित्र शैली की धरोहर, एक प्रेरक तत्त्व की ही तरह मौजूद है। पर, इस तत्त्व की जाँच-परख से हमें चित्रों के मर्म में उतरने की कुछ सुविधा तो होती ही है।

हर कलाकृति अंततः एक बोध के रूप में ही दर्शक के सामने आती है; उसके किसी एक अर्थ के रूप में नहीं। पर, कलाकृति के आस्वाद में उसके प्रेरक तत्त्वों की एक भूमिका तो रहती ही है। इस आलेख में हम प्रेरक तत्त्वों की ही बात कर रहे हैं और ठीक उसी प्रकार से प्रभावों को चिह्नित कर रहे हैं, जिस प्रकार से जामिनी राय के चित्रों में बांकुड़ा (बंगाल) के टेराकोटा घोड़ों की या कालीघाट की बात की जाती है। अन्यथा किसी भी कलाकार की कला या उसकी कलाकृति में न जाने कितनी तरह के चीन्हे या अचीन्हे प्रेरक तत्त्व रहते हैं। मसलन मनजीत बावा के यहाँ अगर कांगड़ा, बसोहली के मिनियेचर चित्रों के रंगों की एक भूमिका है तो एक भूमिका सिल्कस्क्रीन में उभरनेवाले रंगों की समतल भूमि की भी है। मनजीत सिल्कस्क्रीन विधि के बहुत अच्छे जानकार और प्रयोक्ता थे। अब जिसे मनजीत शैली के रूप में जाना जाता है, वह बसोहली प्रभाव और सिल्कस्क्रीन विधि

के प्रभावों के सुमेल से ही जन्मी थी। समतल रंगों में नट-नटनियों के, देव-देवी रूपों के, मनुष्य या सिंह और बकरी के, जो रूप मनजीत के चित्रों में प्रकट हुए, उनके स्रोत बहुतेरे थे। हाँ, इन स्रोतों में एक स्रोत हिमाचल के जन-जीवन और विभिन्न कलारूपों से भी प्राप्त था। स्वामीनाथन ने 1992 में मनजीत बावा पर एक टिप्पणी लिखी थी, जो मनजीत की एक प्रदर्शनी (साक्षी गैलरी, 1996-97, मुम्बई) में शामिल हुई। इसमें स्वामीनाथन ने नोट किया था :

"In point of fact. Manjit's figure is at once an assertion of a tradition and its regation. It hardly owes anything to the realism of the west and its expressionistic aftermath. If any linkage has to be traced, perhaps, it could be related to pahari-miniature tradition or even to pre-miniature pahari painting. There is a certain bonelessness, a neumatic quality to Manjit's figure which echoes both folk pahari painting and the fantnic fresco of Himalayan Buddhism." इस सुचिंतित टिप्पणी का लुब्बोलुआब यही है कि मनजीत की कला का एक तार कहीं न कहीं पहाड़ी मिनियेचर परम्परा से जुड़ता है, यहाँ तक कि पहाड़ी मिनियेचर परम्परा से पहले के कामों से भी।... मनजीत की आकृतियों में, जो हड्डियों रहित देह गठन है, उसमें भी कहीं-न-कहीं पहाड़ी लोक चित्रों और हिमालयी बौद्ध-तांत्रिक भित्तिचित्रों (फ्रेस्को) की प्रतिध्वनि है।

स्वामीनाथन के यहाँ भी हिमाचल का कला वैभव, उनके रंगों और चित्र आकाश में झलकता है; उस पर भी ध्यान जाना चाहिए। पर, उतना ही ध्यान स्वामी की निज की विचारशीलता पर, उनके चिंतन पर भी जाना चाहिए। उनकी उस चित्र-विधि पर भी, जो ज्यामितिक रूपों पर, बहुत दूर तक टिकी हुई है।

हाँ, चित्रकारों पर हिमाचली जीवन और कला के इन प्रभावों को निरी अटकल के रूप में न देखकर एक गहरी प्रतीति के रूप में देखना ही ठीक होगा। अमृता शेरगिल, रामकुमार, स्वामीनाथन, मनजीत बावा अपने निजी जीवन में हिमाचल के प्रति एक गहरे आकर्षण से बंधे थे। इस आकर्षण की अनदेखी नहीं की जा सकती। वह यहाँ आकर रहने और यहाँ बार-बार आने में विश्वास करते रहे हैं। प्रायः हिमाचल से जुड़ी सबकी मित्र-मंडलियाँ भी रही हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय अमृता शेरगिल की मित्र-मंडली रही है, जिसका काफी ज़िक्र विवानसुंदरम् और यशोधरा डालमिया की पुस्तकों में हुआ है।

कुछ ऐसे कलाकार भी हैं ही, जो हिमाचल में लम्बे अरसे तक नहीं रहे, पर जिन्हें हिमाचल अपनी ओर खींचता रहा है। इन चित्रकारों में कृष्ण खन्ना और परमजीत सिंह को हम खास तौर पर याद करना चाहेंगे। कृष्ण खन्ना का एक

घर-स्टूडियो शिमला में भी रहा। वे गर्मियों में यहाँ आते और चित्र रचना करते रहे हैं। परमजीत सिंह भी हिमाचल के विभिन्न भागों की यात्रा करते रहे हैं। अंद्रेटा में कुछ वर्ष पहले उन्होंने एक घर भी बनाया था। यहाँ आते-जाते रहे। अंततः उन्होंने उसे बेचा भी तो इसलिए कि दिल्ली और अंद्रेटा की दूरी को वे और उनका परिवार साध नहीं पा रहे थे।

अंद्रेटा, चित्रकार सोभा सिंह का निवास और स्टूडियो रहा और वे आजीवन वहीं रहे। उनकी कला साधना में तो हिमाचली कला वैभव का अपनी तरह से योगदान रहा ही है। अंद्रेटा कुछ उनके कारण भी, बहुतेरे कलाकारों के लिए एक आकर्षण का केंद्र बना और भवेश सान्याल जैसे कलाकार की अगुवाई में जब अंद्रेटा में समकालीन कलाकारों का एक कलाकार परिसर बनना शुरू हुआ तो रामकुमार, परमजीत सिंह आदि कलाकारों ने भी वहाँ घर बनाए। हिमाचल और इन प्रमुख समकालीन कलाकारों के आपसी रिश्तों का जो ज्ञात-अज्ञात इतिहास है, उपलब्ध अनुपलब्ध सूत्र हैं, वे भी यही बताते हैं कि आधुनिक समय में इसके विभिन्न स्थल, विभिन्न कारणों से, किसी न किसी कला-केन्द्र की तरह भी जाने गए हैं। निकोलाई रोरिख के कारण अगर नगर (कुल्लू) को जाना गया और सोभा सिंह के कारण अंद्रेटा को, तो अमृता शेरगिल, रामकुमार, स्वामीनाथन के कारण शिमला समकालीन भारतीय कला के इतिहास में कई पृष्ठ घेरे हुए है या घेरने की क्षमता रखता है।

सतीश गुजराल का भी एक संस्मरण शिमला को लेकर है, जिसका शीर्षक है 'माई लाइफ, पेंटिंग्स एंड मेक्सिकन स्कॉलरशिप।' यह 'विस्परिंग देवदार्स, राइटिंग्स फ्राम शिमला हिल्स' (संपादक : मीनाक्षी चौधरी) में भी संकलित है और उनकी आत्मकथा का एक अंश है। इसका उल्लेख इसलिए भी कर रहा हूँ कि स्वयं शिमला, ब्रिटिशकाल से लेकर बहुतेरी कला गतिविधियों का केन्द्र रहा है। ये गतिविधियाँ डायरी, संस्मरण, रिपोर्ताज़, लेख आदि के रूप में कई जगह पुस्तकों, कैटलॉग्स में संकलित भी हैं। अमृता शेरगिल ने शिमला सम्बंधी बहुतेरी चीज़ें दर्ज की हैं और उन पर लिखी हुई पुस्तकों में भी वे दर्ज़ हैं। स्वयं विवान गर्मियों में, कई वर्षों तक कसौली में कला-शिविरों का आयोजन करते रहे हैं, जिसमें देश के महत्त्वपूर्ण वरिष्ठ और युवा कलाकार हिस्सा लेते रहे हैं। विवान ने कसौली के प्रसंग से कुछ चित्र भी बनाए हैं। आकृति मूलक। 'बिट्टो' इन्हीं में से एक है।

दरअसल हिमाचल के कला क्षेत्र में उसका पुराना और नया कला-वैभव, दोनों ही शामिल हैं। दोनों के अंतरसम्बंध भी शामिल हैं और वह माहौल भी, जिसमें प्रकृति के साथ एक गहरे रागात्मक स्तर पर मिनियेचर चित्र शैलियाँ सम्भव हुई थीं। साथ ही आधुनिक काल का वातावरण भी, जिसमें कई समकालीन कलाकारों ने अपनी प्रदर्शनियाँ शिमला में लगायी थीं। रामकुमार की एक चित्र प्रदर्शनी 1948

में शिमला में ही लगी थी और उसी से डॉ. जाकिर हुसैन ने उनका एक चित्र खरीदा था। शिमला का गेयटी थियेटर, कॉफी हॉउस, यहाँ के कई पुस्तकालय, रेस्तराँ भी एक कला माहौल का कारण बने रहे हैं।

हमें ही अव उन सूत्रों की खोज करनी है, जो समकालीन कला में हिमाचल और उसकी कला-सम्पदा ने बने-बनाए-पिरोये हैं। इसमें क्या शक कि ऐसी कोई खोज भी हर बार स्वयं एक कला-अनुभव प्रदान करनेवाली होगी।

ऊपर उल्लिखित चित्रकारों के अलावा, वाद की पीढ़ियों के कलाकारों पर भी हिमाचली प्रभाव किसी न किसी रूप में रेखांकित किया जा सकता है। इन्हीं में एक प्रमुख नाम सोहन कादरी का है, जिनकी कला-शिक्षा ही शिमला में हुई थी। योग और तंत्र से प्रभावित उनके चित्रों में रंगों और उनके टेक्सचर से ही ऐसा एक अमूर्त-संसार रचने का यत्न है, जो हमें रंगों और उनमें व्यक्त प्रतीतियों को कई अर्थ-आशयों में ग्रहण करने के लिए उकसाता है। चित्रकार सिद्धार्थ का तो हिमाचल के बौद्ध मठों के थंका-चित्रों से एक प्रत्यक्ष और सीधा सम्वंध रहा है। बहुत कम उम्र में घर (पंजाब) से निकलकर उन्होंने अंद्रेटा में कुछ समय तक सरदार सोभा सिंह से चित्रकला की विधियाँ सीखीं। फिर धर्मशाला के बौद्धमठ में कोई छह वर्षों तक रहकर उन्होंने तिब्बती गुरुओं से थंका चित्र-रचना के गुर प्राप्त किए। तदनंतर चंडीगढ़ के आर्ट कालेज में वे आधुनिक चित्र-विधियों से परिचित हुए। अब दिल्ली में रहकर स्वतंत्र रूप से चित्र-रचना करते हैं। निश्चय ही हिमाचली भित्ति-चित्रों, थंका-चित्रों की रंग सामग्री से भी उन्होंने बहुत सारी चीज़ें ली हैं। वे वनस्पतियों और पत्थर चूर्ण से अपने रंग स्वयं वनाते हैं और प्रायः उन्हीं का प्रयोग करते हैं।

उल्लेख पुरानी पीढ़ी के चित्रकार सनत कुमार चटर्जी का भी ज़रूरी है। वह आजीवन शिमला में ही रहे हैं। यहीं उन्होंने वर्षों अध्यापन किया है और बंगला स्कूल के एक प्रतिनिधि चित्रकार के रूप में हिमाचल के जनजीवन के बहुतेरे दृश्य और रूप भी आँके हैं, जिनमें अपनी तरह का सम्मोहन है। उनकी उपलब्धि के क्षेत्र और भी हैं, हमने तो यहाँ सिर्फ उनके हिमाचली सम्बंध की कुछ याद भर की है। उनके पुत्र हिम चटर्जी ने अपना एक अलग रास्ता अख़्तियार किया है। ग्राफिक विधियों से उन्होंने अपना एक सम्बंध बनाया है और चित्र रचना की आधुनिक तकनीकों से अपनी कृतियों में, एक ऐसा निखार सम्भव किया है, जो अभिव्यक्ति के स्तर पर दर्शक-भावक को स्पर्श करने की क्षमता रखता है।

शिमला समेत हिमाचल के अन्य नगरों में, या उनके आसपास, समकालीन कलाकारों के कई कलाकार शिविर (आर्टिस्ट कैम्प) भी आयोजित होते रहे हैं और ज़ाहिर है कि जब ऐसे कैम्प आयोजित होते हैं तो हिमाचली कला की कुछ झलकियाँ भी कलाकारों को देखने को मिलती ही हैं। शिमला में बसे चित्रकार वाणी प्रसन्नों की

किंचित् आधुनिक मुहावरों वाली, 'प्रकृति से घनिष्ट एक निजी शैली' की भी याद की जानी चाहिए।

अंत में यह ज़िक्र करना ज़रूरी समझता हूँ कि हिमाचल से, हिमाचली कला-वैभव से, हिमाचल की प्रकृति और उसके जनजीवन से, कुछ कलाकारों के सम्बंधों को यहाँ चिह्नित कर सका हूँ, अन्यथा नाम और काम और भी होंगे ही। यह भी कि इस 'सम्बंध' की कुछ पड़ताल डॉ. बी.एन. गोस्वामी जैसे कला इतिहासकार भी अब कर रहे हैं। इस सिलसिले में मनजीत बावा और परमजीत सिंह की कला पर उनकी टिप्पणियों को याद कर सकते हैं। मिनियेचर में मिथकों के इस्तेमाल और मनजीत की कला में मिथकों के इस्तेमाल पर उन्होंने कुछ गौर करने योग्य बातें 'ऋतु' शीर्षक प्रदर्शनी के कैटलॉग में लिखी हैं।

कला और कलाकारों पर हमेशा कई कोणों से विचार और विश्लेषण होता रहा है। इस विश्लेषण को हिमाचली गतिविधियों से जोड़कर देख सकें, और जान सकें कि इस प्रदेश के विभिन्न अँचलों की वे कौन-सी प्रेरक ऊर्जाएँ रही हैं, जिन्होंने 'आधुनिक प्रवृत्तियों' को गति दी है और 'पारम्परिक और समकालीन' के बीच पुलों का भी काम किया है। कलाकारों की अनौपचारिक मंडलियों, उनके बैठने-मिलने के ठिकानों, उनके निवास-स्थानों, उनके पढ़ने-लिखने के रुझानों आदि की जाँच-परख न केवल दिलचस्प होती है, वहाँ से मिली सामग्री से स्वयं कलाकारों के काम, उनके जीवन आदि को समझने में सुविधा मिलती है। ज़ाहिर है इस दिशा में काफी खोज-परख और सामग्री संकलन की ज़रूरत है। इस आलेख को किसी अकादमिक या शोध-पत्र के रूप में न लिया जाए। यहाँ उन कुछ सूत्रों की ओर संकेत करने की कोशिश की गई है, जिनके सहारे हिमाचल प्रदेश की कला गतिविधियों का प्रभाव हम समकालीन भारतीय कला पर ढूँढ और पा सकते हैं।

मैं हिमाचल की कला संस्कृति भाषा अकादमी का आभारी हूँ कि मैं इस संगोष्ठी में भाग ले सका और अपने विचारों को साझा पारखी कलाकर्मियों से कर सका। आप समझ सकते हैं कि जब भी हम चौतरफा अपनी नज़रें दौड़ाते हैं, इस सूत्र से उस सूत्र को जोड़ते हैं; तो मानों हमारे सोचने-समझने का दायरा कुछ और फैल जाता है; बड़ा होता है। इन नोट्स के बहाने, मेरे लिए भी हिमाचल की कला (गतिविधियों) पर सोचने का, कुछ और ढूँढने-पाने का, दायरा बड़ा हुआ है।

निकोलाई रेरिख : द्रष्टा एवं चित्रकार

राय आनन्द कृष्ण

सौ वर्ष पूर्व रूस के एक संभ्रांत परिवार में एक महामना ने जन्म लिया, जो विश्व में निकोलाई रेरिख के नाम से विख्यात हुआ। यद्यपि मूलतः निकोलाई रेरिख अपनी जन्मभूमि के पुजारी थे, पर वे विश्व-मानव थे। उन्होंने एक ऐसे संसार की सृष्टि की जहाँ मानव ही नहीं, समस्त-जग की एक ही इयत्ता है। इस सत्य का साक्षात्कार करने के बाद उन्होंने इसे अपने जीवन में उतारा और संसार को यही संदेश अपने व्याख्यानों, काव्यों और चित्रों के माध्यम से दिया। उनकी सृजन-शक्ति अद्‌भुत थी; अकेले उनके बृहदाकार चित्रों की ही संख्या सात हज़ार से ऊपर है।

निकोलाई रेरिख की शिक्षा-दीक्षा रूस एवं अन्य देशों में हुई। एक ओर वे कला अकादमी में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तो सेंट पीटर्सवर्ग विश्वविद्यालय में इतिहास और भाषा शास्त्र का भी अध्ययन कर रहे थे; साथ-साथ ही विधि-संकाय और पुरातत्त्व संस्थान में भी अध्ययन कर रहे थे। परन्तु इन बाह्य उपकरणों को उन्होंने अपना साध्य नहीं माना। ये शास्त्र उन्हें एक आंतरिक दृष्टि देने के साधन मात्र जान पड़े। ज्यों ही उन्होंने इस पाठ्‌यक्रम को पूरा कर लिया, उन्होंने अपना मार्ग खोजना शुरू कर लिया—यह मार्ग सौंदर्य के अन्वेषण का था। यह केवल बाह्य सौंदर्य न था, जिसे हम प्राकृतजन देखते हैं। दूसरी ओर वह तात्त्विक सौंदर्य है, जिसके अंतर्गत समस्त मानव जाति का उत्थान और भविष्य संरक्षित है। यह वह तत्त्व है जिससे मनुष्य देवत्व की कोटि में आ जाता है। यही रेरिख का संसार के प्रति संदेश था। बाह्य सौंदर्य तो उसका एक प्रत्यक्ष आवरण मात्र है।

प्रारम्भ से ही रेरिख की प्रवृत्तियाँ बहुमुखी थीं। उनके कृतित्व का सबसे प्रथम परिचय उनकी किशोरावस्था से ही मिलने लगा। जब उन्होंने कविताएँ लिखना शुरू किया। ये कविताएँ बाद में (1929 में) 'फ्लेम इन चालिके' के नाम से प्रकाशित हुईं।

इसी समय रेरिख ने उत्तरी रूस में स्थित अपनी पारिवारिक ज़मीनदारी में प्राचीन वाइकिंग और स्लाव जातीय कब्रों का पता लगाया। वहाँ उन्होंने पुरातत्त्व सम्बंधी उत्खनन कराए। इनमें जो सामग्री प्राप्त हुई, वह उन्होंने पुरातत्त्व परिषद् को भेंट कर दी। अकेले पाषाण युग के पुरातात्त्विक अवशेषों के उनके संग्रह में सत्तर हज़ार वस्तुएँ थीं। इसके अतिरिक्त उनके पास तीन सौ तैल-चित्र भी थे। बाद में भी वे हिमालय के अनेक पक्षों का अनुसंधान करते रहे, जिनमें भाषा-शास्त्र, मानव-शास्त्र आदि के अध्ययन प्रमुख हैं। अमेरिकी सरकार द्वारा नियोजित अनुसंधान कार्यों के हेतु उन्होंने गोबी के रेगिस्तान में जाकर ऐसे पौधों का पता लगाया जो सूखी जलवायु में भी पनपते रहते हैं। इन पौधों का प्रयोग फिर अमरीका के सूखे प्रदेशों में किया गया, जो बहुत सफल रहा।

इन जोखिमभरी यात्राओं में रेरिख दूर-दूर तक गए। पाँच वर्षों तक वे मध्य एशिया के बीहड़ पहाड़ी क्षेत्रों में घूमते रहे। इसी प्रकार वे पश्चिम चीन से तिब्बत पार कर भारत आए। यह भी उनकी रोमांचक यात्रा थी। इनके अतिरिक्त रेरिख ने यूरोप एशिया, अमेरिका आदि की कई यात्राएँ कीं। रेरिख के विस्तृत दृष्टिकोण को विकसित करने में इन यात्राओं का विशेष हाथ था। सम्भवतः उन्हें मानवता को पहचानने का साधन, इनमें मिला। इसी से उनका विश्व मानववाद पल्लवित हुआ, जो उनका विश्व के प्रति संदेश है। हम आगे यथा स्थान देखेंगे कि उनके चित्रों में हिमालय उसी सार्वभौम भावना का प्रकट प्रतीक है।

इसी प्रकार रूस में रहते हुए उन्होंने मानव कल्याण के भी अनेक कार्य किए, जिनमें उनके भावी संदेश के बीज वर्तमान हैं।

दूसरी ओर वे रूस के प्रमुख नर्तक-मंचकार निजिस्की के बैले नृत्य में सहयोगी थे। रेरिख ने मस्क्वा आर्ट थियेटर में सफल अभिनेता एवं प्रोड्यूसर स्तानिस्लावस्की के साथ भी काम किया। जब संगीतकार आइगौर स्त्राविन्स्की अपना गीति काव्य *'दि राइट ऑफ स्प्रिंग'* (वसन्तोत्सव) तैयार कर रहे थे तो उन्होंने रेरिख को इस कार्य हेतु अपना सहयोगी चुना। दियाघिलेव के रूसी बैले की साज-सज्जा भी रेरिख ने की। बाद में अन्य अवसरों पर, दिमाघिलेव के सहयोगी प्रसिद्ध चित्रकार ही हुए, यथा—पिकासो, मातीस, ब्राक। इसी प्रकार रेरिख, संगीतकार रिम्स्की-कोसेकोव के सहयोग में संगीत और चित्र के क्षेत्र में अनेक प्रयोग कर रहे थे। इसी काल में उन्होंने मस्क्वा के कत्सान रेलवे के लिए बृहदाकार भित्ति-चित्र तैयार किये। इनकी प्रकांडता को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि रेरिख का दृष्टिकोण असाधारण था। उनकी विराट कल्पना भूमि की इसमें स्पष्ट झलक मिलती है। इसी प्रकार उन्होंने अनेक बड़े-बड़े भित्ति-चित्र बनाए। इनमें स्मोलेंस्थ के निकट तलश्किनों के होली स्पिरिट के गिरिजाघर के भित्ति-चित्र प्रसिद्ध हैं। साथ-साथ उन्होंने अनेक

पहाड़ी औरतें : अमृता शेरगिल, 1935

पहाड़ी लोग : अमृता शेरगिल, 1935
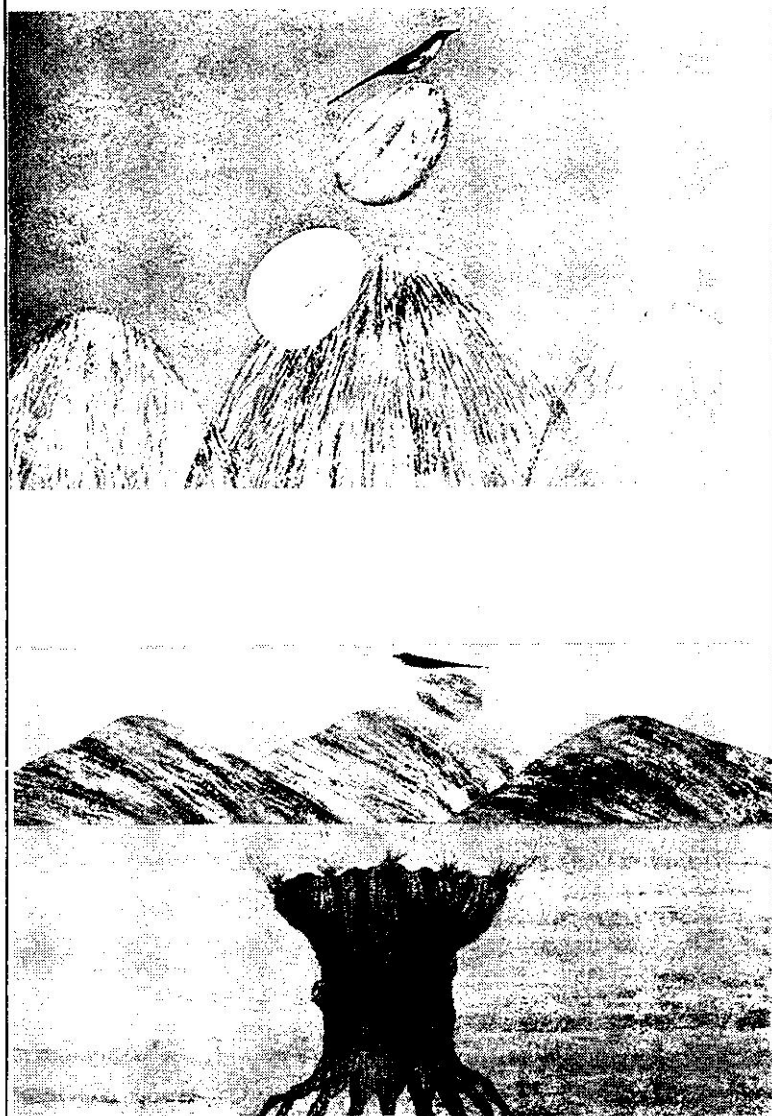
चिड़िया, पेड़, पहाड़ सीरीज़ के दो चित्र : जगदीश स्वामीनाथन
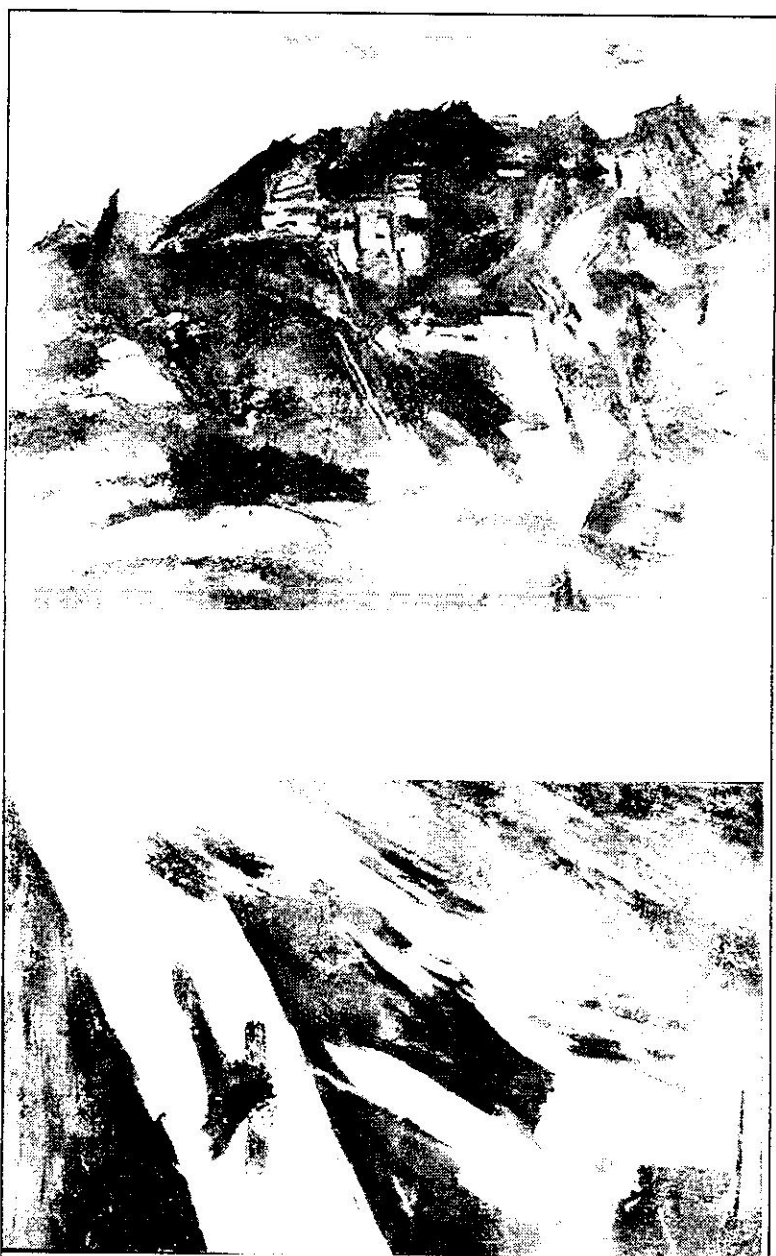
शीर्षक रहित : राम कुमार के दो चित्र

गीति-नाट्यों के लिए मंच सज्जा तैयार की, जिनमें प्रसिद्ध नाटककारों जैसे रिम्स्की-कोर्सकोव, बारोदीन, मूस्सोर्ग्स्की, मेटरलिंक की कृतियों के संदर्भ में उनके प्रयोग विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कुछ का तो स्थायी महत्त्व है।

लेखन कार्य तो स्वतंत्र रूप से चल ही रहा था। 1914 से 1947 तक रेरिख ने 27 बृहद् ग्रन्थ प्रकाशित किए, जो एक अकेले और सामान्य व्यक्ति के लिए कई जन्मों का काम होगा। इन लेखनों से उनके विचारों की प्रगति का ठीक-ठीक मूल्यांकन हो सकता है।

वस्तुतः रेरिख के प्रारम्भिक कार्य-कलाप उनके परवर्ती चिंतन से भिन्न हैं, इन कार्यों में, बीज रूप में उनका भावी विकास छिपा था। घटनाक्रम को यदि हम ध्यान में रखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यही वह काल था जब रेरिख भारत और तिब्बत की ओर उन्मुख थे। प्राच्य जगत् के तात्त्विक चिंतन ने उन पर इसी प्रथम सम्पर्क में प्रभाव डाला हो तो आश्चर्य नहीं। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि रेरिख ने भारतीय धर्म स्वीकार कर लिया या उस परम्परा को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। यदि ऐसी स्थिति होती तो रेरिख के व्यक्तित्व का एक भिन्न ही दिशा में विकास होता। रेरिख ने जो प्रेम-मैत्री-करुणा का संदेश दिया, वह वस्तुतः मानव मात्र की सम्पत्ति है। यह अवश्य मानना होगा कि भारत के इस प्राच्य वातावरण ने रेरिख में यह भावना सहसा प्रबुद्ध कर दी।

रेरिख ने अपने जीवन के सार को अनेक विधाओं से व्यक्त किया, जैसे लेख, व्याख्यान, कविता, मंच-सज्जा, वैज्ञानिक शोध आदि। परन्तु उनका सबसे सार्थक माध्यम चित्रकला थी। इसमें उन्होंने, करुणा, दया, शांति, सम्भाव, मैत्री, मानवीय भावनाओं को पिरोया है। यों उनका शांति संदेश बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। बीस से अधिक देशों ने उसे स्वीकार कर लिया और कई गुणा अधिक देशों ने उसे अंगीकार किया। इसे सामान्य बोलचाल में 'रेरिख पैक्ट' कहा जाता है। इसके अनुसार संस्कृति की रक्षा से ही शांति सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक कार्यों और परम्पराओं का संरक्षण होना चाहिए। शांति अथवा युद्ध के काल में ऐसे सभी शैक्षणिक, कलात्मक, वैज्ञानिक अथवा सांस्कृतिक महत्त्व के अन्य केन्द्रों को सभी पक्षों द्वारा संरक्षण मिलना चाहिए। ऐसे सभी केन्द्रों की पहचान के लिए वहाँ शांतिध्वज लगा देने चाहिए। इस सम्बंध में रेरिख ने एक शांति ध्वज (बैनर ऑफ पीस) का भी सृजन किया। इसे अंतर्राष्ट्रीय रेड क्रॉस के झंडे जैसा सम्मान मिला। इसमें बैंगनी रंग के तीन बिंदु हैं जो इस प्रकार सजाए गए हैं कि एक त्रिभुज-सा आकार बन जाता है। ये पुनः एक बैंगनी वृत्त के अन्तर्गत हैं। पृष्ठभूमि श्वेत है। यद्यपि यह बिल्कुल ही मौलिक संयोजन है, फिर भी उसकी धुन तिब्बती या हिमालय क्षेत्रीय बौद्ध कला के बहुत निकट है। सर्वोपरि उसकी प्रतीकात्मकता में एक

निर्विकार रूप विधान है। उसी से उसकी सार्वदेशिकता प्रकट होती है। उस प्रतीक का वातावरण तात्त्विक है, जो इस संदेश के लिए उपयुक्त स्वरूप है। सर्वोपरि उन वृत्तों के संयोजन में एक गतिशीलता है, जो किसी भी संदेश के लिए आवश्यक है। प्राचीन धर्मों के भी ऐसे ही गतिशील प्रतीक होते थे।

इस ध्वज की लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार में व्याख्या की। एक मत के अनुसार इनके तीन बिन्दुओं द्वारा भूत, वर्तमान, भविष्य का प्रतीक प्रस्तुत किया गया है। इनकी सफेद पृष्ठभूमि शांति की द्योतक है। एक मत के अनुसार ये तीन बिन्दु कला-साहित्य और विज्ञान के प्रतीक हैं।

रेरिख की शांति की कल्पना सौंदर्य पर आधारित थी। सौंदर्य ही वह शक्ति है, जो जीवन के ऊबड़-खाबड़पन को दूर करती है। सौंदर्य मन, वचन, कर्म सभी में प्रकट होता है। हमारे चिंतन में सौंदर्य भावना होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में हमारे विचारों में ऐसी पवित्रता होनी चाहिए, जिसमें किसी प्रकार के विकृत स्वर का स्थान ही न हो। इसी प्रकार हमारी उक्तियाँ और कर्म सभी उस उदात्त सौंदर्य के वशी-भूत हों। फलतः सौंदर्य से ही मानव जाति का कल्याण है। इसी से मनुष्य जाति में शांति स्थापित होगी। रेरिख का यही शांतिघोष है। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटों की उक्ति से हमें इस विषय की कुंजी प्राप्त होती है–

सुन्दर रूप से सुन्दर विचार
सुन्दर विचार से सुन्दर जीवन (कर्म)
सुन्दर कर्म से पूर्ण सौंदर्य।

महाकवि कालिदास ने कुमार-संभव के पंचम सर्ग में इस सिद्धांत को अपने ही रूप में प्रतिपादित किया है।

पार्षति। पापवृत्तये रूपं न...
(रूप से कलुषित वृत्ति सम्भव नहीं है)

दूसरे शब्दों में सच्चा नैसर्गिक सौंदर्य हमें पाप वृत्तियों में प्रवृत्त नहीं करता, बल्कि उससे विरत करता है। स्वतंत्र रूप से रेरिख भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे–

सौंदर्य से हम संयुक्त हैं।
सौंदर्य द्वारा हमारी उपासना है
सौंदर्य द्वारा हमारी विजय है।

वह भारत को इस सौंदर्य की भूमि मानते थे, 'सौंदर्यमय भारत! तेरे नगरों, मंदिरों, खेतों और वनों में, पवित्र नदियों और तेरे हिमालय में, जो महानता और संदेश छिपा, उसके लिए मेरा हार्दिक नमन!'

इसी सौंदर्य की खोज में, इसी की झलक को प्रकाशित करने में रेरिख ने चित्रों का माध्यम ढूँढा। किशोरावस्था से ही रेरिख को चित्रकला से लगाव था। वही

उनके संदेश का मुख्य वाहन बन गया। हिमालय में एक बार स्थापित हो जाने के बाद रेरिख हज़ारों चित्रों के माध्यम से इसी संदेश को चारों ओर फैलाते रहे। उनके स्वयं के बनाए, मौलिक चित्रों की संख्या सात हज़ार से ऊपर बताई जाती है।

रेरिख के चित्रों में उनकी निजी शैली है। शैली की दृष्टि से उनका दूर का सम्बंध यूरोप के उन्नीसवीं शती वाले कला जागरण से है। परन्तु रेरिख की प्रवृत्ति सर्वथा स्वतंत्र थी। अतः वे किसी एक वाद विशेष से बंध न सकते थे। उन्हें तेज रंगों ने उसी प्रकार आकृष्ट किया जैसा एक विद्रोही कलाकार से अपेक्षित था। उनके चित्रों का रूप-विधान भी अनोखा है।

उन्होंने पूर्ववर्ती चित्रों में कुछ अपने पुरातात्त्विक विषय लिए। परन्तु परवर्ती काल में एक बार वह जब हिमालय के गौरव से प्रभावित हो गए तो चित्रों का संसार हिमालय के उच्च शृंगों पर ही आश्रित रहता है। हिमालय की बड़ी-बड़ी चट्टानें, उत्तुंग शिखर और हिम मंडित दृश्यावली, उनके चित्रों को संसार के कोलाहल से दूर ले जाती है। वही उनकी मानसिक भूमि है, जहाँ तात्त्विक चिंतन, मानव कल्याण, आध्यात्मिकता का धरातल मिलता है। वस्तुतः वह हिमालय, उनके अपने भाव जगत् का हिमालय है, जिसकी एक प्रतिच्छाया मात्र उन्होंने इस भूखंड में देखी। उसके शिखर, हिम, उपत्यकाएँ, वनस्पति—सभी उसी वास्तविक और कल्पना जगत् के संध्याकाल की आकृतियाँ हैं। यदि हम इन चित्रों को देखें तो हमें वस्तुतः रेरिख का अपना संसार, अपने आकार और अपने निजी रंग मिलते हैं। फिर भी चित्रकार ने हिमालय की गरिमा को सफलतापूर्वक अपने चित्रों में उतारा है। यह वह हिमालय है जो देवताओं की भूमि है, जहाँ तप की अग्नि निरंतर जल रही है, जहाँ बुद्ध और उनके महर्षियों ने अपने संदेश को प्रस्फुटित किया, जहाँ तंत्र-मंत्र और परम्परागत विश्वासों का अटूट भंडार है। हिमालय के इस गौरवमय पक्ष को जानने के लिए स्वयं रेरिख ने हिमालय के दो क्षेत्रों को अपना निवास स्थान बनाया। प्रथम तो वे दार्जिलिंग के निकट रहे, पर हिमालय के वास्तविक गौरव का साक्षात्कार उन्हें वस्तुतः कुल्लू घाटी में ही हुआ। यहाँ उन्होंने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग बिताया, यहीं उन्होंने शरीर त्याग भी किया।

हिमालय के गूढ़ ज्ञान-विज्ञान का अन्वेषण उनका उद्देश्य न था, फिर भी तिब्बत यात्रा के द्वारा उन्हें इस रहस्यमय वातावरण का परिचय मिला। यह रहस्यात्मकता उनके चित्रों में सदा के लिए उतर गई। यह रहस्य लोक उनके संदेश के लिए सबसे उपयुक्त था। उनके रंग और आकार इसी की पुष्टि करते हैं। इसके साथ-साथ रेरिख ने हिमालय की आत्मा को, वहाँ के विश्वासों को भी समझा, परखा, आत्मसात् किया। इनके प्रति उनका सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण होते हुए भी एक तटस्थता का भाव है। इसी प्रकार उनका बौद्ध धर्म के प्रति प्रकट

अनुराग न था, पर उसके प्रति एक गहरी अनुकम्पा या आस्था है। बुद्ध बोधिसत्व या अन्य बौद्ध देवी-देवता, उन व्यक्तित्वों का दर्शन नहीं कराते, वरन् उस भावना को प्रकट करते हैं।

कला भवन में ऐसे कई मार्के के चित्र हैं जिन्हें प्रो. निकोलाई रेरिख ने प्रायः चालीस वर्ष प्रदान किए थे—

कल्कि अवतार : यह संसार की व्यवस्थाओं का हरण करनेवाला भावी अवतार है, जो कलियुग की घोर यातनाओं के अंत में अवतरित होगा। मानव समाज इसी विश्वास में इस अवतार की प्रतीक्षा कर रहा है। इस चित्र में हिमालय की सुनसान उपत्यकाओं से घिरा हुआ एक साधक अपनी साधना में डूबा हुआ है। तभी एक ओर बादलों का एक पुँज आकाश में घुमड़ आता है। बादलों में एक घुड़सवार की अस्पष्ट-सी आकृति उभर आती है। यही उस साधक के विश्वास और श्रद्धा का पंजीभूत स्वरूप है, जो प्रत्यक्ष होकर भी अप्रत्यक्ष है, जो दीख पड़ता हुआ भी नहीं दिखलाई देता, जो बादल की एक घटा के समान क्षण भर में अन्तर्धान हो जाएगा।

दाता बुद्ध : हिमालय की ऊँची-ऊँची शिलाओं के बीच पत्थर की कटी हुई कुछ सीढ़ियाँ हैं। ये सीढ़ियाँ कहाँ से शुरू होती हैं और कहाँ समाप्त होती हैं, इसका ओर-छोर नहीं है, जैसे जीवन क्रम का, साधना का। साधक सारा जीवन इन सीढ़ियों पर चढ़ता चला आ रहा है। यही उसकी सारे जीवन की निधि है।

महायान धर्म के सिद्धांतों के अनुसार बुद्ध की करुणा ही मानवता की त्राता है। उसी के अनुसार किसी अनजान ऊँचाई से, बुद्ध ऊपर से नीचे उतरकर मानवता तक स्वयं अवतरित हो जाते हैं और अपनी करुणा का दान देते हैं। यहाँ सहज दैवी अनुकम्पा और मानवीय सीमा से मर्यादित आत्मिक उत्कर्ष का चित्रण है, उसी अवस्था में प्रेम और दया से इन तत्त्वों का संगम है।

सांध्य आकाश अपने गहरे नीले आवरण में झलक रहा है। ऊपर चन्द्रकला भी है, संध्या अभी-अभी भूतल पर उतरी भर है। यह संध्या का धुंधलका ही है, जहाँ जीवन की ऐसी साध पूरी होती है। इसी के बाद घोर अंधकार है, चिर निशा है, चिर निद्रा है।

रेरिख ने साधक को एक भिखारी के रूप में प्रस्तुत कर, एक अत्यंत कोमल भावना को, भक्ति के संस्कार को छू लिया है।

चरक : इस चित्र में रेरिख ने अपने रंग विधान को बहुत कुछ बदल दिया है। सुदूर पृष्ठभूमि में एक बड़ा हिमखंड है, जो सर्वथा तृणहीन और रंगविहीन है। उसकी पारदर्शिता में निष्कलुष सौंदर्य तो है, परन्तु उसमें जीवन के स्पंदन का अभाव है, तटस्थता है।

दूसरी ओर तृण शाद्वल से ढकी मखमली ढलान है। एक वृद्ध व्यक्ति, जिसका शरीर ज्ञान और अनुभव के भार से झुक गया है, अपने कंधे पर कुछ

जड़ी-बूटियाँ लिए ढलान पर से उतर रहा है। यह वृद्ध, भारतीय आयुर्वेद का पितामह, चरक है। सारे जीवन में हिमालय के सुनसान में औषधियों की खोज करते-करते उसकी जो उपलब्धियाँ हैं, वे ही उसकी एक मात्र निधि हैं। उसे मानव जाति के कल्याण के लिए, संसार को समर्पित करने की त्वरा इस वृद्ध में दिखलाई पड़ती है। उसकी त्वरित चाल से यह प्रतीत होता है कि जीवन संध्या आने के पूर्व ही यह कार्य पूरा हो जाना है। यही मानव जाति के उपदेष्टाओं की कल्याण भावना है, जो चरक के प्रतीक से उपस्थित की गई है। रेरिख की मानव जाति के कल्याण की अपनी भावना भी इस प्रकार यहाँ उपस्थित है।

बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि स्वयं रेरिख वनस्पति विज्ञान के प्रेमी थे। उन्होंने हिमालय की वनस्पतियों का अध्ययन किया था और उन्होंने 1929 में वनस्पति शास्त्र और वैद्यक शास्त्र आदि के अध्ययन हेतु कुल्लू में एक संस्थान की स्थापना की थी।

त्रिरत्न : बौद्ध धर्म की परम्परा में बुद्ध, धर्म और संघ इन तीनों की विशेष मान्यता है। ये तीनों बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख शिखर हैं। अतः प्रारम्भिक बौद्ध वस्तुओं के अलंकरणों में तीन शृंगों वाला अभिप्रायः (मोटिफ) बहुत अधिक संख्या में प्राप्त होता है और इसे त्रिरत्न कहते हैं। यही बौद्ध धर्म का सबसे लोकप्रिय पूजनीय चिह्न है। भारतीय कलाकारों ने इससे एक से एक विलक्षण आलंकारिक स्वरूप तैयार किए। ऐसी गहन परम्परा के अंतर्गत, उन सबको एक ओर ठेलकर, त्रिरत्न को एक नया रूप विधान देना, रेरिख जैसे महाप्राण व्यक्ति के लिए ही सम्भव था। फिर उसे हिमालय के संदर्भ में भी दिखलाना था। यहाँ ये हिमालय के तीन शिखर हैं।

टूटा तारा : यह दृश्य उपर्युक्त दृश्यों से बिल्कुल भिन्न है। रेरिख ने इसमें तिब्बत की एक परम्परागत मान्यता का बड़ी ही आत्मीयता के साथ चित्रण किया है। तिब्बत के एक गाँव का भी बहुत संश्लिष्ट अंकन है। यह उनके स्वयं के देश-दर्शन पर आधारित है।

तिब्बत में यह मान्यता है कि जब दलाई लामा का निर्वाण होता है, तो उसी समय दलाई लामा एक शिशु रूप में कहीं न कहीं नया अवतार भी ले लेते हैं। इसका प्रमाण इस प्रकार मिलता है कि आकाश से एक तारा टूट कर गिरता है और जिस गाँव में नए दलाई लामा का जन्म होता है, उसे एक अलौकिक प्रकाश, उसी समय आलोकित कर देता है। उसी आलोक में सभी वास्तु उभर आए हैं। उसी आलोक के सामने छायाकृति के समान एक व्यक्ति इस सारे दृश्य को निस्तब्ध देख रहा है। यह काल पुरुष है।

रेरिख के चित्रों में हिमालय की महागाथा

आशुतोष रमण

बचपन में हिन्दी की किताब में एक पाठ पढ़ा था–'कुल्लू से मनाली की बस यात्रा।' शीर्षक के ठीक नीचे देवदारों के बीच सड़क का मोड़ काटती हुई बस का एक रेखांकन था। तब यह पहला चित्र था जिसने मेरे मस्तिष्क पर अपना प्रभाव छोड़ा था। उस चित्र को देखकर मिली खुशी का अहसास आज भी अपने ज़ेहन में ताज़ा पाता हूँ। इस चित्र का आकर्षण मानें या गाँव के बच्चे का सड़क पर दौड़ती बस के प्रति मोह भी हो सकता है। तब गाँव में एक ही बस आती थी। उस बस की आवाज़ सुनकर हम बच्चे घरों से बाहर निकल आते और चलती हुई बस देखने के लिए खलिहान पर खड़े हो जाते थे। कुल्लू से नगर के लिए बस में बैठते ही वह चित्र बार-बार मेरी स्मृति में आता रहा।

दरअसल यहाँ नगर एक गाँव का नाम है। पतली कुहल, कुल्लू और मनाली के बीच एक छोटी-सी जगह है, यहीं बस से उतरता हूँ और सामनेवाली धार पर नगर दिखाई देता है। जो मेरे लिए चित्रकार मनीषी निकोलाई रेरिख का नगर है; क्योंकि रेरिख का स्टुडियो और इन दिनों उसमें लगी उनके काम की राष्ट्रीय प्रदर्शनी देखने के उद्देश्य से ही यहाँ आया हूँ। नीचे बर्फ़ का पानी लिए ब्यास बह रही है और ऊपर जंगल की ढलानों पर सुबह की नम और ठंडी धूप कुछ पीताभ चिलकने लगी है।

नगर के बच्चे सामने उतराई के रास्ते के साथ सेब के सूखे पत्ते जला रहे हैं। काला धुआँ उठ रहा है और सुबह की हवा के साथ नाले के बीच नीचे से ऊपर तक फैल रहा है। नवम्बर की उड़ती हुई धूड़ और बच्चे। बच्चों के उलझे हुए धूसर बाल, लाल कान और चुपचाप बहती हुई नाक। उन्हें ठंड नहीं लगती, बल्कि वे ठंड से खेलते हैं। मगर नवम्बर में उनके होंठ और गाल चुपचाप फटते जाते हैं। 'हमारा रास्ता' शीर्षक अपनी कविता में रेरिख कहते हैं–

हम अब आगे आगे चल देंगे
भविष्य में हम कभी नहीं मिल पाएँगे इन बच्चों से

निकोलाई रेरिख के चित्रों में उनकी कविता के ये बच्चे बहुत कम हैं, मगर पहाड़ बहुत सारे हैं। 'द हॉल्ज़' में रेरिख के स्टुडियो की मैंटलपीस पर एक पेंटिंग पड़ी है। यह बर्फ़ से ढके हुए पहाड़ का दृश्य है, जिसमें बर्फ़ शाम की उठती हुई धूप को अपने में संजोये रखने के प्रयास में है। यह रेरिख का पहाड़ है। रेरिख ने यह पेंटिंग नगर स्थित अपने घर के बरामदे में ही बनाई होगी। बर्फ़ से ढकी वह बीच की ढलान नगर के सामने मनाली के ठीक ऊपर है। इस पेंटिंग को देखते हुए वस्तु और उसकी विषयवस्तु दोनों एक साथ हमारे सामने रहती हैं।

नगर रेरिख का एक ऐसा पड़ाव है, जहाँ वह निश्चिंत होकर अपनी यात्राओं का निष्कर्ष निकलते हैं। फिर वे यात्राएँ तिब्बत, अल्ताई पर्वत और गोबी रेगिस्तान के उनके खोजी अभियान की हों या सिक्किम, लद्दाख और मंगोलिया आदि की। 30 नवम्बर, 1932 को रेरिख परिवार का जहाज बम्बई पहुँचा था और एलिफेंटा से भ्रमण शुरू करके जयपुर, दिल्ली, सारनाथ, बनारस और कलकत्ता की यात्रा के बाद वे लोग दार्जिलिंग से कुल्लू आए थे। तभी निकोलाई रेरिख यहाँ बसने का भी तय कर चुके थे। अपनी खोजी यात्राओं के बाद 1928 में भारत लौटने पर रेरिख ने कुल्लू घाटी के इस नगर गाँव में मंडी के राजा से यह 'हॉल्ज़ एस्टेट' खरीदा और स्थायी रूप से यहाँ बस गए।

इधर के पहाड़ रेरिख के लिए प्रवेश द्वार हैं। इन्हें लाँघकर वह नंगे पहाड़ों के उस ठंडे मरुदेश के मायालोक में प्रवेश करते हैं, जहाँ वनस्पति का नामोनिशान नहीं है। 'शंग थांग हाईलैंड' शीर्षक चित्र को देखें तो मरुभूमि पर गाड़े गए दो तम्बू और आकाश मार्ग से गुज़रते धूमकेतू के अतिरिक्त इसमें कुछ भी नहीं है। यह अंतरिक्ष और भूमि का समागम प्रतीत होता है, जहाँ रेरिख अपने दिल की आहट सबसे अधिक सुनते हैं और तारों से बातें करते हैं। दरअसल रेरिख धान के सीढ़ीनुमा खेत, सेब के बाग, देवदार के जंगल, कलकलाते नदी-नाले और ऊँची आवाज़ वाले झरने कुल्लू घाटी में पीछे छोड़कर, इसी अध्यात्म की तलाश में यहाँ तक पहुँचे थे। यहाँ आकर रेरिख ने वे पहाड़ रचे हैं, जिनके मध्य उन्होंने स्वयं पदयात्रा की, जिनकी भाव-भंगिमा को सुबह से शाम तक और रात को चाँद-सितारों से बातें करते, उन्होंने बहुत करीब से देखा था।

वास्तव में रेरिख एक पहाड़ है। पत्थर की तरह कठोर और बर्फ़ की तरह ठंडा। इस पहाड़ पर सुबह का सूरज उतरता है, दिन भर तपता है और साँझ होते रहस्य बुनता हुआ उठ जाता है। रेरिख बर्फ़ में सोते हैं और ठंडी हवाएँ उन्हें सहलाती हैं। उनके आकाश में सप्त-ऋषि हैं। चारों ओर श्वेत मौन है।

पहाड़ रेरिख की फॉर्म है, जिसका वे अध्ययन करते हैं। उनका यह अध्ययन वस्तुपरक दृष्टि से आरंभ होता है, जिसे आगे चलकर वे जीवंत करते हैं। उनके इन पहाड़ों में भारतीय किस्म की लीपा-पोती नहीं है। भारतीय दृष्टि से जे. स्वामीनाथन के पहाड़ विषयक चित्र भी काफी चर्चित रहे हैं, लेकिन उनमें कथ्य पहले आ जाता है और फॉर्म पीछे रह जाता है। इसीलिए उनके चित्रों में बात अधिक प्रबल रहती है। लेकिन रेरिख के पहाड़ों में कथा नहीं है। उनके पहाड़ तो जैसे कथा बुनने बैठे ही हैं।

नगर में हालाँकि सभी रंग हैं, लेकिन इस मौसम में यह गाँव भूरे या श्याम-श्वेत में ही अधिक मुखर देखा जा सकता है। पैगोडा शैली का त्रिपुरा सुंदरी मंदिर धूप से अछूता है—ठंड में ठिठुरता। मंदिर का यही रास्ता 'उरुस्वाति' तक ले जाता है। 'द हॉल्ज' के पीछे 'उरुस्वाति' रेरिख का अनुसंधान संस्थान व पुरातत्त्व संग्रहालय है। 'उरुस्वाति' का शाब्दिक अर्थ है—भोर के तारे का प्रकाश। 'उरुस्वाति' एक छोटी धार पर देवदारों से घिरा है।

'द हॉल्ज़' निकोलाई रेरिख का घर है। यहाँ रात को बहते नाले की ठंड में सनी हुई तेज़ हवाएँ चलती हैं। इसके आँगन में रेरिख का शांति ध्वज फहराता है। यह विश्व प्रसिद्ध 'रेरिख पेक्ट' का द्योतक भी है। युद्धों के कारण सांस्कृतिक विश्व की बहुमूल्य सम्पदा रेरिख ने नष्ट होते देखी थी। इस विभीषिका का उनके मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव था। इसलिए 1929 की यूरोप व अमेरिका यात्राओं के दौरान शांति के पक्षधर मानवतावादी रेरिख ने उस चर्चित 'रेरिख पेक्ट' पर काम किया, जिसमें युद्ध के दौरान कला-संस्कृति के विध्वंस को रोकने का प्रावधान था। 'रेरिख पेक्ट' का अभियान उन्होंने नगर से ही चलाया, जिसे बाद में विश्व के 39 देशों का अनुसमर्थन प्राप्त हुआ। इसमें अमेरिका और सोवियत संघ भी शामिल थे। यह पेक्ट सांस्कृतिक विश्व को रेरिख की अनूठी देन है।

'नगर' कभी कुल्लूत देश की राजधानी रहा है और अब कला मनीषी निकोलाई रेरिख के साधना स्थल के रूप में विख्यात है। यह इस पहाड़ी गाँव की कथा है। अब रेरिख के चित्रों की राष्ट्रीय प्रदर्शनी—'हिमालय की गाथा' भी यहाँ की प्रमुख घटना बन गई है। वैसे इसे अंतर्राष्ट्रीय कहना भी उचित होगा, क्योंकि ये चित्र यात्री कलाकार के नोट्स हैं और यह यात्रा रूस की पुरानी राजधानी और सांस्कृतिक केन्द्र पीटर्सवर्ग (लेनिनग्राद) से शुरू होकर विश्वव्यापी हुई और अंततः हिमालय के इस छोर पर आकर ठहरती है।

लेपिसलेजूली ब्लू।

यह चित्रकला की शब्दावली में नील का नाम है। नील जो ठंडा है। इस प्रदर्शनी में रेरिख के लगभग सभी चित्रों को नील ठंडा किए हुए है। वह कहीं बर्फ़

की ठोस शिला है तो कहीं पिघलती हुई बर्फ़ का सैलाव। फिर सूरज की रोशनी और पहाड़ों की ऊँचाई रेरिख की इस 'फॉर्म' को नीला किए हुए हैं। यहाँ पर एरियल परस्पैक्टिव परिभाषित हुआ है। नीले पहाड़! रेरिख पहाड़ों को एक यात्री की नज़र से देखते हैं और उसके वायुमंडलीय रहस्यों को रंगों में परिभाषित करते हैं।

देखना आँख की भाषा है। आँख दुनिया के ऊपर चलती है और अपनी भाषा में दुनिया को बाँचती है। तभी आँखों में दुनिया रहती है। सेज़ाँ ने फ्रांसीसी प्रभाववादी क्लॉद मोने को आँख की संज्ञा दी थी। केवल आँख, लेकिन अद्भुत। सूरज रोज़ आता है, पहाड़ों को देखता है और चला जाता है। हम देखते हैं सूरज का आना, देखना और चले जाना। सूरज का छोड़ा हुआ धूप का हर टुकड़ा पहाड़ का जागृत जीवन है। पहाड़ का यह जीवन धूप-छाँव में खेलता रहता है। सुबह से शाम तक सूरज की रोशनी के साथ पहाड़ की आँख खुली रहती है। इसी आँख में रेरिख के चित्र भी जीवित हैं। इसी धूप-छाँव में रेरिख स्थिरप्रज्ञ बैठे हैं।

रेरिख के पहाड़ों की कठोरता और ऊँचाई, उनकी ज्यामितिक संरचना में भी नज़र आती है। वे पहाड़ों को टुकड़ों में विभाजित करके हर टुकड़े का दृष्टिपरक अध्ययन करते हैं और उन सभी टुकड़ों को जोड़कर, पहाड़ के एक चित्र की रचना करते हैं। इस दृष्टि से वे कहीं पर, वस्तु के बाहरी रूप में ही उसकी सम्पूर्णता माननेवाले फ्रांसीसी कलाकार पॉल सेज़ाँ के करीब बैठते हैं। लेकिन दूर-दराज़ के रहस्यों के रंग, इन चित्रों में मिथकीय प्राण भी भर देते हैं। आज जब हम 1903 के युवा रेरिख के बनाए चित्रों को देखते हैं तो उनमें देखी गई विषयवस्तु के सभी रंगों की झलक मिलती है। उनके चित्रित किए हुए उस समय के रूस के चर्च व ऐतिहासिक इमारतों के चित्र 'वास्तु' के बाहरी शिल्प को बाँचने का ही प्रयास है। यह रेरिख के रंगकोष का शुरुआती भाग है। रूस भ्रमण के दौरान रचे गए रेरिख के इन चित्रों का चर्च और ऐतिहासिक इमारतों पर केन्द्रित विषय भी, रेरिख को उनके समकालीन कलाकारों की अपेक्षा रूढ़िवादिता की ओर सम्मोहित होने का एक कारण कहा जा सकता है।

निकोलाई रेरिख के कुल सात हज़ार चित्र आज भी भारत और विश्व की अनेक कला दीर्घाओं में प्रदर्शित हैं। उनकी लगभग आठ चित्र-मालाएँ विशेष चर्चित रही हैं, जिनमें 41 चित्रों की हिमालय सीरीज़ प्रमुख है। इस सीरीज़ के चित्र भी 'हिमालय की महागाथा' प्रदर्शनी में विशेष महत्त्व रखते हैं।

युवा चित्रकार आशुतोष रमण (9 जुलाई, 1977–25 मार्च, 2003) की वर्ष 2002 की यात्रा डायरी से

कलाकार अमृता शेरगिल

इकबाल सिंह

गर्मियों की एक सुहानी सुबह। 1973 का वर्ष और स्थान था—शिमला। भारत में ब्रिटिश शासन की ग्रीष्मकालीन राजधानी। रात-भर की धुंध सिमटने लगी थी और सूरज अभी-अभी इस धुंध से बाहर सरका ही था। पूरा शहर ठंडी धूप की गिरफ्त में था। शिमला का फेशनपरस्त बाज़ार 'माल' हरकत में आ चुका था। आराम-परस्त सम्भ्रांत वर्ग मौजूद था—भारतीय राज कुंवर दमकते हुए हीरे जड़े कर्ण-कुंडलों में, भारतीय महिलाएँ इन्द्रधनुषी बहुरंगी साड़ियों में तथा उनकी अंग्रेज़ बहनें अपने अधुनातन ग्रीष्म परिधानों में; जो समुद्र पार पेरिस और लंदन से यहाँ पहुँचा ही था। मर्द अपनी ट्वीड में और इक्का-दुक्का सरकारी मुलाज़िम अपने टोप पहने सुबह की पोशाक में दिखाई दे रहे थे।

आम आदमी अपने पारम्परिक भारतीय पहरावे में थे, जिनमें धोती पहने कलकत्तिया बंगाली और तमिल के दक्षिण भारतीय से लेकर पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम सीमांत के लोगों को ढीली पतलूनों में पहचाना जा सकता था। कुछ ऐसे सुविधाभोगी लोग जो अपने अंग हिलाने तक से गुरेज़ करते हैं, सुंदर वर्दियों में लैस कुलियों द्वारा रिक्शा में खींचे जा रहे थे। कला रसिकों के लिए प्रायः माल रोड के उस छोर का कैफे एक मात्र गंतव्य स्थल था। ऑरकेस्ट्रा में 'वीएना-वाल्ट्ज़' की निरंतर उभरती हुई धुन के साथ लोगों की गुफ्तगू की एक स्निग्ध गूँज उठ रही थी।

इस सबके बीच सीढ़ियों के पार दहलीज़ पर क्षण भर के लिए एक संतुलित, छरहरी, तनिक ठिगनी व निर्भीक सुंदर युवती की झलक दिखाई दी—वह थी अमृता शेरगिल! अमृता चटख लाल रंग के ब्लाउज़ के साथ जीवंत हरे रंग की साड़ी पहने थी। कानों पर भारी तिब्बती जड़ाऊ झूमके थे—उसका एक मात्र आभूषण। उसके चेहरे पर चमक रही थी, एक तरह की जीवंतता और भरा-पूरा पन। उसकी आँखों में दमकती हुई हँसी थी। एक चुलबुली हँसी, जिसमें व्यंग्य और शिष्ट

हास का संयोग था। गाढ़े काले केश बीचों-बीच माँग से दोनों ओर बराबर बंटे हुए।

अमृता शेरगिल का जन्म हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट में 30 जनवरी, 1913 को हुआ था। वह सरदार उमराव सिंह मजीठिया की बेटी थीं। मजीठिया एक सम्भ्रांत सिक्ख परिवार से थे तथा साथ ही एक दार्शनिक और संस्कृत एवं फारसी के प्रसिद्ध विद्वान भी। अमृता की हंगारी माँ मारिया अन्त्वातात एक जानी-मानी संगीतकार और ऑपेरा गायिका थीं।

उनका परिवार अप्रैल, 1921 में भारत लौटा। उस वक्त अमृता सात वर्ष की थीं। यह परिवार शिमला के समरहिल में बस गया। यहीं अमृता की शिक्षा सम्पन्न भारतीय परिवार के बच्चों की तरह आरम्भ हुई, जिसमें संगीत एवं चित्रकला शामिल थे। किन्तु जल्दी ही अमृता के माता-पिता को यह मालूम हो गया कि एक औसत बच्चे की तुलना में उनकी बेटी की चित्रकला में अधिक रुचि है। वह उसे जनवरी, 1924 में कला-प्रशिक्षण के लिए इटली के फ्लासेरेंस में ले गए, जहाँ उसने *'सेंटा एनन थियेटा'* के स्कूल में प्रवेश पाया। किन्तु यहाँ वह अधिक देर तक न रही और कुछ ही महीनों के बाद उसे स्कूल से निकाल दिया गया। जानते हो क्यों? क्योंकि उसे स्कूलवालों ने स्त्री का नग्न चित्र बनाते हुए देख लिया था।

भारत वापिस लौटने पर अमृता जून, 1924 से 1929 तक अपने माता-पिता के पास शिमला के समरहिल में ठण्डे और प्राकृतिक छटा से भरपूर पहाड़ी परिवेश में रहीं। इस बीच अपने उत्तर प्रदेश के वन संकुल सराय गाँव (गोरखपुर) में भी समय विताया। यह उसके रचनात्मक व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण वर्ष थे, जिन्होंने उसके ज़ेहन पर एक अमिट छाप छोड़ी; क्योंकि आनेवाले वर्षों में हम इस चित्रकार की कैनवसों पर पहाड़ी लोगों और सराया गाँव के साधारण जनों को चित्रित देखते हैं।

अप्रैल, 1929 में अमृता अपने परिवार के साथ पेरिस पहुँची। वहाँ उसने पियरे वैलां के अंतर्गत ग्रैंड कॉमिये में काम शुरू किया। लेकिन वह शीघ्र ही *'एकोल नेशनेल द वाव आर्टस'* के एक महान प्रोफेसर ल्यूसिएं सिमोन की शिष्या बन गई। सिमोन अपने क्षेत्र में प्रवीण तो थे ही, एक प्रखर द्रष्टा भी थे। उन्होंने एक बार अपनी इस शिष्या से कहा था, 'एक दिन मुझे इस बात का गर्व होगा कि तुम मेरी छात्रा रही हो।' बाद में यह भविष्यवाणी सत्य साबित हुई।

इस संस्था में अमृता लगभग तीन वर्षों तक रही। उसका हर वर्ष उपलब्धियों भरा था। वर्ष 1934 में *'जवान लड़कियाँ'* शीर्षक एक विशाल संरचना को वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति घोषित किया गया और उसे ग्रैंड सैलोन की सहकर्मी के रूप में चुना गया। अमृता की आयु उस समय 19 वर्ष की थी और सम्मान प्राप्त करनेवाली वह सबसे कम आयु की कलाकार थी। वह वास्तव में पहली भारतीय या

यों कहें पहली एशिया मूल की कलाकार थी, जिसे यह सम्मान प्राप्त हुआ। किन्तु इन पुरस्कारों व सम्मानों के बावजूद उसने यूरोप को अपने लिए उपयुक्त नहीं पाया। उसने यह महसूस किया कि एक कलाकार के रूप में उसका भविष्य भारत में है। भारत लौटने की इच्छा उसके ज़ेहन में गूँजती रही, जिसके बारे में उसने एक जगह स्वयं लिखा है, 'मेरे मन में एक अवर्णनीय अजनबी एहसास बार-बार उभरता है कि चित्रकार के रूप में मेरा अंतिम लक्ष्य भारत में ही है।' अतः नवम्बर, 1934 में अमृता अपने माता-पिता के साथ भारत आई।

सितम्बर, 1935 में अमृता शेरगिल ने शिमला में फाईन आर्ट सोसायटी द्वारा आयोजित वार्षिक कला प्रदर्शनी के लिए दस चित्र भेजे। इनमें से पाँच स्वीकृत कर लिए गए तथा शेष अस्वीकृत हुए। प्रदर्शित चित्रों में से एक चित्र को सर्वोत्तम आकारगत अध्ययन के लिए पुरस्कार दिया गया। किन्तु जिन पाँच कृतियों को उक्त प्रदर्शनी में शामिल किया गया था, उनमें से एक कृति को पेरिस ग्रेंड सैलोन में पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका था और कृति यूरोपीय कला समीक्षकों द्वारा काफी सराही गई।

अमृता को इस बात पर गुस्सा आया। उसने इस पुरस्कार को लेने से इन्कार करते हुए उसे लौटा दिया। उसने लिखा, 'मुझे इस पुरस्कार को किसी अन्य सुपात्र कलाकार के पक्ष में लौटा कर प्रसन्न होना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार के सम्मान को प्राप्त कर वह कलाकार अपने आपको काफी सम्मानित महसूस करेगा तथा उसकी कृति मुझसे ज्यादा भावनात्मक होगी, जिसको शिमला फाइन आर्ट सोसायटी के निर्णायकों ने गत 63 वर्षों से सुरक्षित रखा है।'

मार्च, 1936 में दिल्ली फाइन आर्ट्स प्रदर्शनी में अपने दो आत्मचित्रों के लिए अमृता ने पुरस्कार प्राप्त किए, किन्तु बाद में नवम्बर, 1938 में उसने अपने चित्रों की बम्बई में एक प्रदर्शनी लगाई, उसमें उसे अपनी कृतियों के लिए भारत में पहली बार अभूतपूर्व सराहना मिली।

अब उसकी दिलचस्पी दक्षिणी भारत के भ्रमण में थी। यह ललक उसे अजंता और एलोरा तक ले गई। वह मालाबार के हरे-भरे तट के साथ-साथ कन्याकुमारी तक खूब घूमी। अजंता और एलोरा को देखकर वह अभिभूत हुई। उसने लिखा है, 'एलोरा भव्य है। अजंता अनुपम और अति सुन्दर है।' किन्तु जब उसने कोचीन में मत्तनचेरी प्रासाद के भित्तिचित्र देखे तो वह बहुत प्रभावित हुई। उसी के शब्दों में—'मैंने शायद ही कहीं ऐसे सशक्त चित्रांकन देखे होंगे। यह प्रायः अजंता से भी बढ़कर हैं।'

दक्षिण भारत से लौटने के बाद वह कुछ दिनों के लिए दिल्ली में ठहरी और
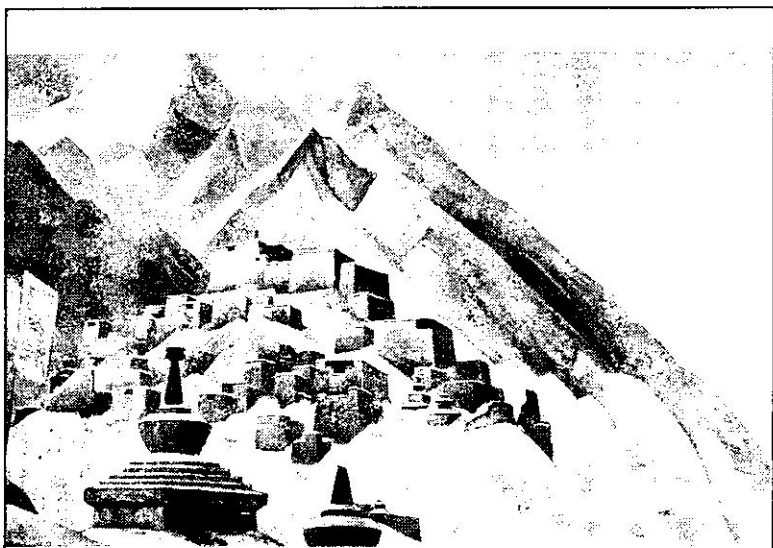
हिमालय शृंखला के दो चित्र : निकोलाई रेरिख
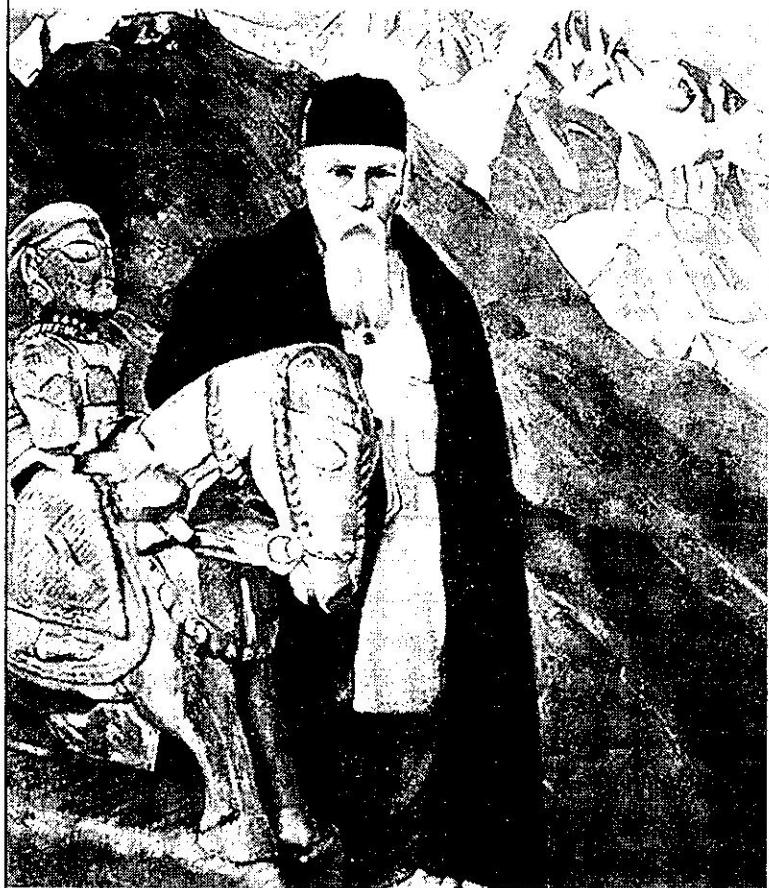
निकोलाई रेरिख : नगर-कुल्लू स्थित हॉल एस्टेट के बागीचे में गूगा चौहान की प्रतिमा के साथ

चित्र : स्वेतोस्लाव रेरिख (पुत्र)

गद्दन : सोभा सिंह

मंजीत बावा की चित्रकृति

वहाँ उसने एक प्रदर्शनी आयोजित की। यही वह अवसर था जब वह पहली वार पंडित जवाहर लाल नेहरू से मिली। उसने इस भेंट के बारे में कुछ इस प्रकार लिखा है–'मैं दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू से मिली। मेरी यह इच्छा थी कि मैं उनसे मिलूँ। मेरा विचार है कि उन्होंने मुझे उतना ही पसंद किया है जितना कि मैंने उन्हें। वह मेरी प्रदर्शनी में आए और हमारी एक लम्बी बातचीत हुई। कुछ दिन बाद उन्होंने मुझे लिखा था–मैंने तुम्हारे चित्रों को पसंद किया है, क्योंकि इनमें शक्ति और दृष्टि एक साथ है। तुममें ये दोनों गुण हैं। ये सभी चित्र अतीत से बुझे हुए उन निर्जीव चेहरों से कितने भिन्न हैं, जिन्हें हम अक्सर अपने देश में देखते हैं।'

शिमला लौटने के बाद अमृता ने कुछ समय अपने कैनवसों पर दक्षिणी भारतीय स्मृतियों को उतारने में बिताया। अनेक आलोचकों की दृष्टि में उसकी इस दौर की चित्रकला सम्भवतः सबसे ज़्यादा फलप्रद रही है। उसने कैनवस के बाद कैनवस तैयार किए जो कि उसकी दक्षिण भारतीय शैली के नाम से जाने जाते हैं। इसी में दक्षिण भारतीय त्रिक्-चित्र भी हैं, जैसे–'*ब्रह्मचारी, दुल्हन का प्रससाधन* तथा *बाज़ार जाते दक्षिण भारतीय ग्रामीण*'। इन चित्रों के साथ ही अमृता की कला का एक युग समाप्त हो जाता है।

अमृता शेरगिल ने नवम्बर, 1937 में पहली बार लाहौर के कलात्मक परिवेश में प्रवेश पाया। वह अपने चित्रों की एकल प्रदर्शनी के सिलसिले में यहाँ आई थी। हम लोगों के लिए 21 नवम्बर, 1937 का वह दिन अविस्मरणीय है। प्रदर्शनी का आयोजन फ्लैटीज़ होटल के बॉलरूम में था और वहाँ तीस कैनवस प्रदर्शित किए गए थे। अधिकांश बड़े आकार के थे। इनमें दक्षिण भारतीय शैली के चित्र प्रमुख थे। इन चित्रों ने दर्शकों पर बिजली की तरह असर किया। सुविख्यात कला समीक्षक स्व. डॉ. चार्ल्स फेब्री भी इस प्रदर्शनी को देखने आए थे। वह अमृता को छह वर्ष की उम्र से जानते थे। उनके अनुसार यह प्रदर्शनी रहस्योद्घाटक थी।

अमृता 1938 के आरम्भ में लाहौर से लौट आई तथा कुछेक महीने उसने शिमला में बिताए और बीच-बीच में सराया भी जाती रहीं। इस दौर में उसने '*अपराह्न का विश्राम, कथा वाचक, गणेश पूजा, पहाड़ का दृश्य, हरे तालाब में नहाते हाथी*' जैसे अनूठे चित्रों की रचना की। उसने अपने चित्रों में पहली बार पेड़ों, फूलों तथा पत्तों का अलंकरण-सज्जा के रूप में उपयोग किया। किन्तु पहले की तरह अब भी रंग उसकी कृतियों के विशिष्ट आधार थे। उसने कहा है, 'रंग मेरा साम्राज्य है, और मैं उनके साथ सरलता से सम्पर्क स्थापित कर लेती हूँ।'

काफी साल तक उसकी सगाई अपने ममेरे भाई डॉ. विक्टर एगॉन से रही।

यह निर्णय हुआ कि वह हंगरी जाएगी, शादी करेगी और उसके बाद वे दोनों भारत आएँगे। जून, 1938 में वह समुद्र यात्रा पर थी। बुडापेस्ट पहुँचने के तत्काल बाद उसकी और विक्टर की शादी हो गई। एगॉन परिवार ने यह तय किया कि वह शिमला में बस जाएँगे। लेकिन यहाँ डॉ. एगान की प्रैक्टिस नहीं चली। अमृता भी अपने बहुत से चित्रों को नहीं बेच पाई। अतः वे सराया चले गए, जहाँ अमृता के चाचा सर सुंदर सिंह मजीठिया के खांडसारी के कारखाने के अस्पताल में चिकित्सा अधिकारी के रूप में डॉ. एगॉन की नियुक्ति हुई।

इस अवधि में अमृता ने बहुत-से चित्र बनाए, जिनमें—*विश्राम, हाथियों का विहार स्थल, झूले, घोड़ा और साईस, प्राचीन कथा वाचक, चारपाई पर विश्राम करती महिला, हल्दी पीसनेवाली, ऊँट*—आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें मुगल एवं राजस्थानी लघु चित्रों के प्रति रूझान नज़र आता है।

एक गर्मी के मौसम में जब वह गर्मी से बचने के लिए थोड़े समय के लिए शिमला आए हुए थे, अमृता और उसके पति ने यह तय किया कि वे लाहौर चले जाएँगे। और परिणाम स्वरूप सितम्बर, 1941 में एगॉन दम्पति लाहौर चले गए। अमृता अपने कारोबार को चलाने में बुरी तरह से जुट गई, जबकि डॉ. एगॉन ने अपना व्यवसाय शुरू कर दिया। थोड़े ही दिनों में वे लाहौर के सामाजिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन गए। अमृता का घर कवियों, लेखकों, संगीतकारों और कलाकारों का संगम स्थल बन गया था।

अमृता ने अपनी प्रदर्शनी आयोजित करने की ऊहापोह शुरू कर दी तथा इसके लिए उसने दोबारा चित्र बनाने शुरू किए। जो चित्र वह बनाना चाहती थी, वह उसके आवास के पिछली ओर रहनेवाली एक ग्वालिन के बाड़े में बंधी हुई भैंसों का था। इस दृश्य को अमृता अक्सर अपने दु-मंज़िले मकान की छत से देखा करती थी। लेकिन अचानक वह बीमार पड़ गई और उसकी यह कृति अधूरी ही रह गई।

आज अमृता शेरगिल हमारे देश में एक किम्वदंती है। लोग उसे उसकी महान कलाकृतियों के कारण जानते हैं। उन्होंने यह भी सुन रखा है कि वह बहुत सुंदर थी और अल्पायु में ही चल बसी। कुछ लोगों ने सुन रखा है कि वह अपने विचारों की पक्की, तुनकमिज़ाज थी और उसका व्यक्तित्व विरोधाभासों से युक्त था। कभी वह अप्रिय भी हो जाती थी।

मैं समझता हूँ कि वह हमेशा एक सुन्दर और चमकते हुए सितारे की तरह प्रखर बुद्धि की थी। वह एक कुशल वक्ता थी और उसे कई देशों के साहित्य का गहरा ज्ञान था। संगीत से उसका आंतरिक लगाव था। न केवल शास्त्रीय संगीत से, बल्कि 'जाज' से भी। अंत तक उसने इसी संगीत में शांति महसूस की। जब वह

अवसाद से भर जाती तो जाकर पियानों पर बैठ जाती और घंटों बजाती रहती। वह एक बहुत अच्छी वादक भी थी।

यदि अमृता की समस्त कृतियों का एक शब्द में मूल्यांकन किया जाए तो सहज ही यह कहा जा सकता है कि–वह एक *'मुक्तिदाता'* थी। भारतीय क्षितिज पर उसके अल्पकालिक उदयास्त के बाद भारतीय कला संसार फिर कभी वैसा नहीं हुआ। उसने भारतीय कला को मुक्ति प्रदान की है। उसने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। फिर भी किसी न किसी रूप में उसने प्रत्येक परवर्ती कलाकार को किसी स्तर पर प्रभावित किया है।

तीन दिसम्बर, 1941 को अमृता शेरगिल अचानक बीमार हुई और 5 दिसम्बर की मध्य रात्रि को उसने प्राण त्याग दिए। वह अभी 29 वर्ष से भी कम उम्र की थी। लाहौर में रावी के तट पर उसके कतिपय मित्रों और प्रशंसकों की उपस्थिति में उसका अंतिम संस्कार किया गया। जैसे ही शोकग्रस्त पिता ने उसकी चिता को अग्नि दी, उसके शरीर को लपटों ले लील लिया। मुझे अभी तक याद है उस क्षण मैं अपने आप से कह रहा था–'हम इस विलक्षण प्रतिभा को फिर कभी नहीं देख पाएँगे।'

अनुवाद : श्रीनिवास श्रीकांत, सामग्री सौजन्य : अजीत सिंह

कलाकार स्वामीनाथन

निर्मल वर्मा

यह याद करना बहुत मुश्किल है कि मैं स्वामी को कब से जानने लगा। लगता है जैसे मैं उन्हें हमेशा से जानता था। हमारी मित्रता उस तरह की नहीं रही जो जीवन में देर से प्रतीत हो और महज़ अवसरों पर ही याद आए। हमारी पक्की दोस्ती थी जो आज विरल है। यह उत्कट और हर तरह से अंगीकार की गई मित्रता–गहरी भावनात्मक, बौद्धिक और हमारे व्यक्तित्वों के हर पहलू को शामिल करने वाली थी। हम शिमला और दिल्ली में दोनों जगह स्कूल साथ गए। हमारी मित्रता और गाढ़ी हुई जब हम युद्ध के बाद दिल्ली चले आए और यहाँ कॉलेज जाने लगे। मैं सेंट स्टीफन में दाखिल हुआ और स्वमी हिन्दू कॉलेज में। मैंने सोचा था हम बिछुड़ जाएँगे, लेकिन–साहित्य व राजनीति जैसी हमारी समान रुचियों ने यह साथ बनाए रखा।

हमारे साथ का सबसे उत्कट दौर वह था जब हम कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। स्वामी ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी छोड़ दी थी, क्योंकि उनका मानना था कि वह मार्क्स के दर्शन को अपनाने में पुरज़ोर नहीं थी। हमने सोचा कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी सोवियत अनुभव और चीनी क्रांति की सफलता के संदर्भ में एक तरह का रेडिकल विकल्प पेश करती है। यह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति सीधा आकर्षण न था, बल्कि बड़ा सवाल भौतिक और मानसिक शोषण से मुक्ति की दिशा में और उपनिवेशवाद से पूरी तरह स्वाधीन होने का था।

हम रोम्या रोलां का 'जां क्रिस्तोव' पढ़ा करते थे, जो क्रिस्टोव की संगीत व जर्मन-फ्रेंच मैत्री के प्रति सम्पूर्ण आस्था को लेकर है; जिसमें कला, साहित्य और व्यापक रूप में मनुष्यता को लेकर मानवतावादी महान विचार है; जो आत्मा के सम्मोहन और समृद्धि को लेकर है। हम ऐसे विचारों को किताबों से लेकर अपने जीवन का हिस्सा बनाने की कोशिश किया करते थे। स्वामी एक घनघोर पाठक थे, वह महज़ अर्थशास्त्र और मार्क्सवाद सम्बंधी नहीं पढ़ा करते थे, उन्होंने एक बार मेरे से ब्रिटिश मार्क्सवादी

क्रिस्टोफर काडवेल की किताब 'क्राइसिस इन फिज़िक्स' ली। एक लम्बे अर्से तक स्वामी मेरे साथ भौतिक विज्ञान सम्बंधी बुर्जुआ अवधारणाओं में आश्चर्यजनक अंतर्विरोधों को लेकर बात करते रहे। उनकी पसंद की किताब जिसके लिए मैं उनकी भावना को सांझा करता हूँ सेंट एक्सपेरी की 'सेडसन एंड द स्टारज़' थी। वह टामस हार्डी को बहुत पसंद करते थे और उनका कोई उपन्यास पढ़े बिना नहीं छोड़ते थे।

चेक पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद कार्य शुरू करने के लिए 1959 में मैं चेकोस्लोवाकिया गया। उस समय मुझे चित्रकला के प्रति स्वामीनाथन् के अनुराग की भनक तक न थी। उससे पहले हम पहाड़ों पर जाया करते थे, विशेष तौर पर शिमला। कभी जब हम ट्रेकिंग पर साथ कोटगढ़ गए तो मैं एक किताब ले लेता, वह स्केच बुक उठाते और सारा दोपहर बाद स्केच करते रहते। संभवतः पहाड़ के आकार को लेकर इसी से उनमें कल्पना की पहली चिंगारी फूटी, जो बाद में प्रायः उनके चित्रों में मुखर होती रही। मैंने अब तक कोई दूसरा व्यक्ति नहीं देखा जो अपने विचारों को इतनी सूक्ष्मता और सुघड़ता से व्यक्त कर पाए। स्वामी की कोई पूर्व निर्धारित धारणाएँ नहीं होती थीं अपितु वह साहसिक और सहज होकर, बिना किसी सजावट के–एक बहुत प्रदीप्त बौद्धिक तर्क संगति से अपने विचारों को प्रस्तुत करते थे। स्वामी पीपल्ज़ पब्लिशिंग हाऊस के संपादकीय विभाग में काम करते थे और यह उन्हीं के परामर्श से हुआ कि मेरा पहला कहानी संग्रह एक ऐसे प्रकाशन गृह ने स्वीकार किया, जिन्होंने इससे पहले प्रकाशन के लिए साहित्य कभी स्वीकार नहीं किया था।

मैं समझता हूँ कि स्वामी का सबसे बड़ा योगदान कला में भारतीय आत्मा के समकालीन प्रतिबिम्ब की तलाश करना था, वह भी अपने अतीत या वर्तमान में किसी तथाकथित बंगाल स्कूल जैसों का अनुकरण किए बगैर। उन्होंने पहाड़ी लघुचित्रों से जो कुछ लिया वहाँ भी उनके मूल भावों का अनुकरण नहीं किया। वह लघु चित्रों के रंग, खास गंध, उड़ान और ऐन्द्रिकता ले लेते, लेकिन उन्हें अपनी दृष्टि और शैली में ढाल लेते थे। इसी तरह तांत्रिक चित्रों से भी उन्होंने प्रकृति, वृक्षों और पशुओं के बीच के निगूढ़ सम्बंधों को ही लिया–उनकी घिसी-पिटी आकृतियों को छोड़कर वह जादू पकड़ा जो इन सम्बंधों में निहित है। भारतीय प्रतिमा विज्ञान के किसी भी मिलते-जुलते भाव की नकल किए बिना उन्होंने अपने चित्रों के माध्यम से भारतीय चित्र की आत्मा को परोक्ष रूप से सम्मान प्रदान किया है–मुझे स्वामी के चित्रों में एक तरह की काव्यात्मकता (लिरिसिज़्म) दिखाई देती है। सौंदर्य का यह तत्त्व ही है, जो न केवल उन्होंने अपने चित्रों में बल्कि अपने जीवन के समूचे कर्मक्षेत्र में हासिल किया है। जीवन के हर क्षेत्र में मूलतः वह एक कवि ही थे।

अंग्रेज़ी से अनूदित

धौलाधार के आँगन में बसा कलाकार

सुदेश कुमार

काँगड़ा ने अनेक विभूतियाँ पैदा कीं तो कई प्रख्यात लोगों को इतना आकर्षित भी कर दिया कि वे यहाँ आए तो मात्र घूमने के लिए थे, मगर यहीं के होकर रह गए। यहीं बस कर यहाँ की माटी में खो गए और उन्होंने यहीं अपनी कर्मभूमि बनायी। इन्हीं महान विभूतियों में एक थे। प्रख्यात चित्रकार और आध्यात्मिक चिंतक सरदार सोभा सिंह।

सरदार सोभा सिंह का जन्म एक सैनिक ऑफिसर सरदार देवा सिंह के घर 29 नवम्बर, 1901 को श्री हरगोबिन्दपुर जिला गुरदासपुर में हुआ। सरदार सोभा सिंह में एक अच्छे चित्रकार के गुण मौजूद थे और वे स्वभाव के बहुत सरल थे। पिता फौजी ऑफिसर ने जब घर की दीवारों पर चित्र बने देखे तो अपने बेटे सोभा सिंह को खूब डाँटा और इसे अपना वक्त जाया करना बताया। इनके पिता इन्हें जिस तरह रखना चाहते थे, उस तरह से वे रहना नहीं चाहते थे। वे सोभा सिंह को बहुत हठी कहते और उनके इस हठ पर पिता को बहुत गुस्सा आता था। उनके पिता कहते थे कि जहाँ घोड़े तक मेरे कहने से दौड़ते और रुकते हैं, वहाँ मेरा बेटा इसके प्रतिकूल चलता है।

एक ओर पिता की डाँट और कुछ बनाने की चाह तो दूसरी तरफ बेटे की अपनी तरह की लगन। दोनों में यह एक टकराव था। इस विरोधी स्थिति में सोभा सिंह ने सोचा कि ज़िन्दगी का अर्थ कुछ नहीं है और मर जाना ही बेहतर है। हर रोज़ अपने पिता की डाँट सुनने से तंग आकर एक दिन वह व्यास नदी की तरफ दौड़ पड़ा। रेत के टिब्बों पर से छलांगें लगाकर पार करते जब वह थक कर चूर हो गया तो उसने एक बाड़ में छलाँग लगाई। तब उसे अनुभव हुआ कि ज़िन्दगी तो भगवान का दिया गया एक अनमोल रत्न है, इसे व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए।

सोभा सिंह को बचपन से ही करतब दिखाने का बड़ा चाव था। एक बार

वह एक बड़े फाटक पर कलाबाजी लगा रहे थे कि उनकी दायीं टांग टूट गई और उन्हें जीवन-भर लंगड़ापन सहना पड़ा। परन्तु अपने इस लंगड़ेपन पर उन्हें ज़रा भी दुःख नहीं था। जीवनानुभव में उन्हें इस बात से बड़ी तसल्ली हुई कि लार्ड बायरन भी लंगड़ा था।

पाँच वर्ष की आयु में उनकी माता इच्छरां देवी का देहांत हो गया। उनका पालन-पोषण बड़ी बहन लक्ष्मी देवी ने किया, जो अमृतसर में रहती थीं। जब सोभा सिंह पन्द्रह वर्ष के हुए तो उन्होंने आर्ट और शिल्प में एक वर्ष का कोर्स इंडस्ट्रीयल स्कूल अमृतसर से किया। सन् 1919 में उन्होंने ब्रिटिश इंडियन आर्मी में ड्राफ्टसैन का पद ग्रहण किया। कुछ महीने अमृतसर में रहने के बाद वह बगदाद चले गए। वहाँ उन्होंने यूरोपियन चित्रकला के बारे में पुस्तक पढ़ी और शौकिया अंग्रेज़ चित्रकारों से प्रेरणा भी ली। 1923 में जब वे वापिस हिन्दुस्तान आए तो उन्होंने फौज की नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। उसी वर्ष उनकी शादी वैशाखी वाले दिन बीबी इंद्र कौर से हुई, जो गुरदासपुर के एक मशहूर ठेकेदार की बेटी थीं।

अब वह ज़िन्दगी को एक अलग अंदाज़ से देखने लगे। मन में चित्रकला को ही सर्वोपरि स्थान देने की ललक थी। इसलिए फव्वारा चौक अमृतसर में सुभाष स्टुडियो नाम से शिल्पशाला खोली। उन दिनों स्वतंत्रता संघर्ष में सिख सत्याग्रहियों के चेहरे पर आत्मिक तेज़ की झलक उभरती देखकर वह बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने इस तेज़ को अपनी चित्रकला की विषयवस्तु बनाया और सिख गुरुओं के चित्र बनाने का निर्णय लिया। इसी क्रम में उनकी मुलाकात सरदार हीरा सिंह 'दर्द' से हुई। दर्द साहब की पत्रिका *फुलवाड़ी* के लिए उन्होंने बहुत चित्र बनाए, सस्सी का चित्र बनकर आया तो कई चित्रकारों ने दांतों तले उंगली रख ली। वे सोभा सिंह की कला का लोहा मानने लगे थे।

सन् 1926 में वे लाहौर चले गए, जहाँ उन्होंने अनारकली बाज़ार कचहरी रोड पर 'इक्को स्कूल ऑफ आर्ट' नामक शिल्प कला केन्द्र खोला। वहीं उनकी मुलाकात मशहूर लेखिका अमृता प्रीतम के पिता ज्ञानी करतार सिंह हितकारी और मोहिन्द्र सिंह रंधावा से हुई। उन दिनों (सन् 1929) रंधावा लाहौर में बॉटनी में एम. एस.सी. कर रहे थे। उनको थिसिस के लिए पौधों के थिसल स्कैच की दरकार थी, सो यह दायित्व भी उन्होंने निभाया। इसी समय रंधावा ने इनके बने हुए पंजाबी औरतों के चित्र देखे तो इससे वे बहुत प्रभावित हुए। रंधावा ने महसूस किया कि यही एक चित्रकार है जो पंजाब के लोगों के जीवन को पूरी तरह चित्रों में उकेर सकता है।

इस बीच सरदार सोभा सिंह दिल्ली आ गए और कनॉट सर्कस में चित्रकला स्टूडियो की स्थापना की तथा वहीं रिहायश भी ले ली। वहाँ उन्होंने पोर्ट्रेट पेंटिंग्स

का अभ्यास किया और भारतीय रेलवे तथा भारतीय डाक-तार विभाग के लिए कई पोस्टर बनाए। हिन्दुस्तानी राजाओं और महाराजाओं के लिए चित्र तैयार करके खूब नाम कमाया। उनके चित्रों की माँग ने उन्हें प्रसिद्धि तो दी ही, उन्हें कई मैडल भी मिले। उनके बनाए कुछ चित्र 'लंदन इलैस्ट्रेडिड न्यूज़' के वार्षिक अंक में भी छपे। उन्हीं दिनों फाईन आर्ट गैलरी द्वारा शिमला में इनके चित्रों की प्रदर्शनी भी लगाई गई। जो उनकी पहली प्रदर्शनी थी। प्रदर्शनी में *सोहनी-महिवाल* का पहला चित्र भी लगा। यही चित्र सरदार गुरबख्श सिंह प्रीतलड़ी के कहने पर दुबारा बनाया गया। उस समय सरदार सोभा सिंह लगभग तीन साल (1942-45) तक प्रीतलड़ी के कहने पर प्रीतनगर में रहे थे। उन्होंने शिमला में 1945 में भारतीय सेना में आठ महीने प्रचार अधिकारी की नौकरी भी की थी।

सन् 1946 में उनकी मुलाकात प्रसिद्ध फिल्मी कलाकार पृथ्वीराज कपूर से हुई। सोभा सिंह ने 'बुत तराश' फिल्म में आर्ट डायरेक्टर की भूमिका बखूबी निभाई। उन्होंने पृथ्वीराज कपूर का लाईफ साईज़-बस्ट चित्र बनाया, जिसे खूब सराहा गया। इस चित्र को अन्द्रेटा आर्ट गैलरी में लगाया गया है। इससे पूर्व सन् 1934 में सरदार जी ने गुरु नानक जी का चित्र उनकी माता तृप्ता की गोद में बनाया था, जिसमें उन्हें घर-परिवार की अन्य स्त्रियों से घिरा दर्शाया गया है। इस चित्र में कुछ ईसाई आर्ट की भी झलक मिलती है। सन् 1937 में उन्होंने *'नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिनरात'* में गुरु नानक जी को अधखुली आँखों में दर्शाया। इन सब चित्रों की रूहानी कद्र को देखते हुए चंडीगढ़ म्यूज़ियम में सजाया गया है।

अगस्त 1947 में उन्हें लाहौर से दिल्ली आना पड़ा। अपने बनाए लगभग साठ चित्र और घर का सामान वहीं छोड़ना पड़ा। उन्हीं दिनों अपने एक शागिर्द के साथ वे कांगड़ा घाटी के गाँव अन्द्रेटा पहुँचे। मूसलाधार बारिश हो रही थी, सर्दी ने भी अपना भयंकर रूप दिखाया था। एक दुकान के बरामदे में उन्होंने अपना बिस्तर लगाया, लेकिन दुकानदार ने उनकी हालत देखकर अपनी एक शैड में, जिसमें वह चायपत्ती बनाता था, उन्हें एक रात गुज़ारने की आज्ञा दे दी। बाद में यही एक कमरा लेकर वे आठ महीने वहाँ रहे और वहीं पर एक कॉटेज बनाने का मन भी बना लिया, इसलिए कुछ ज़मीन भी ले ली। लेकिन कॉटेज बनाने के लिए पैसा भी अपेक्षित था। पैसे के जुगाड़ के लिए ही उन्होंने शिमला, बम्बई और दिल्ली की तरफ जाना उचित समझा। मगर दिल्ली पहुँचकर भी पैसे का कुछ जुगाड़ नहीं हुआ।

इसी बीच 1948 में मोहिन्द्र सिंह रंधावा, जो दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर थे और अब उनका तबादला अम्बाला हो गया था, उन्होंने सरदार सोभा सिंह को अपने पास बुला लिया। रंधावा ने सरहिन्द क्लब अम्बाला में उनके चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित करवाई, जिसमें भारतीय वायु सेना के अधिकारियों ने उनकी

बनी बहुत-सी पेंटिंग्स खरीदीं। इससे उन्हें खूब आमदनी हुई। इस राशि से उन्होंने जिला कांगड़ा के अन्द्रेटा गाँव में अपना घर बनाने का कार्य आरम्भ किया। सन् 1949 में उनका अपना घर बनकर तैयार होने पर उन्हें आत्म-संतुष्टि हुई। उन्होंने यहाँ गुरु नानकदेव जी के साथ अन्य सिख गुरुओं—गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द सिंह, गुरु तेग बहादुर, गुरु गोविंद सिंह और श्रीराम, श्रीकृष्ण, हजरत ईसा, शेख फरीद के चित्रों के अलावा अपनी बीवी इंद्र कौर व एक विदेशी रंगकर्मी महिला नोराह रिचर्ड के भी चित्र बनाए। उन्होंने कांगड़ा दुल्हन के चित्र भी बनाए, जो कांगड़ा घाटी की बालाओं की सुन्दरता को दर्शाते हैं। इन चित्रों से उन्हें खूब ख्याति मिली।

सोहनी-महिवाल के चित्र ने तो लोगों के मन को छू लिया। जब तीसरी बार उन्होंने *सोहनी-महिवाल* का चित्र बनाया तो उसे महाराजा (डॉ.) कर्ण सिंह ने खरीदा। लेकिन इसका कॉपी राईट सोभा सिंह ने अपने पास ही रखा और एक अच्छे प्रेस से इसे छपवाया। आज भी यह चित्र मध्यवर्गीय घरों की दीवारों की शोभा बढ़ाता है। भारत के जाने-माने विद्वान और राजनीतिज्ञ डॉ. कर्ण सिंह, सोभा सिंह के बड़े प्रशंसक रहे हैं। उन्होंने सन् 1974 में सोभा सिंह के चित्रों की प्रदर्शनी दिल्ली में लगवा कर उनकी कला का सम्मान किया। डॉ. कर्ण सिंह जब राजदूत बनकर अमेरिका गए तो अपने साथ सरदार सोभा सिंह की बनाई गुरु नानकदेव जी की पेंटिंग भी ले गए थे। सोभा सिंह के बनाए कई चित्र आज भी अमर महल म्यूज़ियम की शोभा बढ़ा रहे हैं।

सरदार सोभा सिंह चित्रकार के साथ-साथ कवि व दार्शनिक भी थे। वे कला को एक बड़ी शक्ति मानते थे। उनके अनुसार कला कोई भी हो, उसका मनोरथ मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक कर्म का विकास करना है। अगर कला ऐसा नहीं करती तो निष्फल है। उनके अनुसार, 'हर रचनाकार को ऐसी रचना करनी चाहिए जिससे आदमी भक्त, दाता और शूरवीर बन सके। संसार में पैसा कमाने के और भी साधन हैं। कला के दैवी गुण को उनके लिए रहने दो जो इसके योग्य हैं।'

चित्रकार का धर्म सौंदर्य, कल्याण, सत्य की झलक पाते रहना ही है। यह शारीरिक, मानसिक और आत्मा की साकार झलकियों के रास्ते वह देता रहता है। कला की तकनीक के साथ चित्रकार की आत्मिक उन्नति होना भी ज़रूरी है। कला कहीं बाहर से नहीं आती और न ही सिखाई ही जा सकती है। कला केवल सर्वव्यापी अनुशासन और संयम का बहाव और विकास है, इसे रूहानी में लाने के लिए समय के आगे कई जन्मों से जमी हुई मिट्टी, पत्थर, कंकड़ हटाने की आवश्यकता है। अगर सामने से ये रुकावटें न हटाई जाएँ तो कला के निर्मल जल में जमी काई बढ़ती

ही जाएगी। कला स्वयं में एक रचनात्मक प्रक्रिया है, जिसे लाभ और हानि की कसौटी पर नहीं उतारा जाना चाहिए। इसे मज़हबों और कौम के डंडों से नहीं नापना चाहिए। कला तो मज़हबी जंजीरों को तोड़ती है। कौमी सीमाओं को हटाती है। इसकी शक्ति फूलों, बादलों को अपनी मधुरता देती है। जिस तरह खूबसूरत तितलियों को सुन्दर फूल मिल जाते हैं, उसी तरह मनुष्य का हृदय और दिमाग है, जो ज़रा-सा प्रोत्साहन मिलने पर अपना जादू भरा नखरा बिखेर देता है। इसी को हम कला कहते हैं।

ज़िन्दगी को आर्ट या कला के पीछे नहीं भागना चाहिए, क्योंकि जागी हुई रूहों के पीछे कला सोई अवस्था में होती ही है। उसको जगाना भर होता है। सोभा सिंह के अनुसार आम आदमी के कोमल भावों तथा जज़्बाती भूख को सामने लाने के लिए कला ही एक साधन है, जो सामाजिक रीति-रिवाज़ों से बंधी होती है। कला अपने आप में न तो बड़ी होती है, न छोटी और न ही अच्छी और बुरी; बल्कि हर ताकत की तरह यह भी एक ताकत है। इसकी अच्छाईयाँ और बुराईयाँ कलाकार के आचार-व्यवहार पर निर्भर करती हैं। कला से व्यक्ति के अन्दर के भावों को भी टटोला जा सकता है।

सरदार सोभा सिंह ने कलाकार या चित्रकार के फर्ज़ के बारे में फरमाया है कि एक सच्चे कलाकार का फर्ज़ यह है कि वह प्रकृति से जान-पहचान करे, उसकी कद्र करने के लिए प्रकृति से प्यार करे। सुन्दर दृश्यों, विशाल और महान पर्वतों तथा गहरे सागर का कलम, ब्रश या अक्षर व रंगों में एक साथ ही ऐसा चित्रण करे जो देखनेवालों को प्रभावित करें। ऊँचे और सच्चे कलाकार का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन, अपनी कृति अथवा अपनी रचना से अपने इर्द-गिर्द के लोगों को प्रभावित कर सके। जैसा हम आजकल देखते हैं कि आदमी की आदमियत से भरोसा या तो उठ गया है या फिर उठता जा रहा है। कलाकार या रचनाकार इस उठे हुए भरोसे को नए सिरे से बना सके। लेकिन बदकिस्मती से कई वर्ष बाद यह देखने में आता है कि कलाकार से मिलने पर जो बाकी का बचा हुआ भरोसा है, वह भी उठ जाता है तथा सामाजिक जीवन खाली-खाली-सा लगने लगता है। कला का एक मिशन होना चाहिए।

सरदार सोभा सिंह के मन में इस बात का बहुत मलाल था कि कुछ अखबारों में एक पन्ना खेल-खिलाड़ियों के लिए हर दिन होता है, परन्तु कला के लिए इतना स्थान नहीं होता। उन्होंने पृथ्वीराज कपूर का बस्ट बनाकर अपनी आर्ट गैलरी अन्द्रेटा में लगाया। एक बस्ट डॉ. एम.एस. रंधावा का भी बनाया। डॉ. रंधावा इस बात से बहुत हैरान थे कि सोभा सिंह मूर्तिकार भी हैं। रंधावा की मूर्ति कांसे में ढाल कर बनाई गई है, जो चंडीगढ़ म्यूज़ियम में है। सोभा सिंह

पृथ्वीराज कपूर और बलराज साहनी का हिन्दुस्तानी थियेटर में बहुत योगदान मानते थे। जीवन में इन्हें एक दुःख इस बात का भी हुआ था कि म्यूनिसिपल हॉल अमृतसर में उनका बनाया हुआ गुरु रामदास जी का चित्र लगभग दो साल तक नहीं लगाने दिया गया था; सरदार जी ने काफी जद्दोजहद के बाद उन्हें यह समझाया कि अमृतसर की नींव गुरु रामदास जी ने ही रखी थी, तब कहीं जाकर उनका चित्र इस हॉल में लगा। जब वहाँ गुरु रामदास जी का चित्र लगा तो उन्हें बहुत मानसिक संतुष्टि हुई।

कला के गुण उनके फौजी पिता देवा सिंह में भी विद्यमान थे। उन्होंने अपना ड्राईंग-रूम अपने हाथों से बनाए हुए चित्रों से व खरीदी गई सुन्दर कलाकृतियों से सजाया हुआ था। उन्होंने गुरु नानक की मूर्ति स्वयं बनाकर सजाई हुई थी। इसके साथ हनुमान, भैरों, अष्टभुजा देवी के चित्र भी थे। जब कोई फौजी ऑफिसर बदल कर बाहर जाता तो उनके पिता उससे चित्र और घड़ियाँ वगैरा खरीद लेते थे। इनके घर में दस घड़ियाँ लगी थीं। जब उनकी फौज बर्मा गई तो वहाँ से महात्मा बुद्ध के कुछ बुत भी वह लेकर आए थे। सोभा सिंह इन सबको बड़े गौर से देखा करते थे।

जब उनकी बहन उन्हें अमृतसर लेकर आई तो वहाँ उन्होंने पुल के पास बड़ी हवेली में महारानी विक्टोरिया की बहुत बड़ी संगमरमर की खूबसूरत मूर्ति देखी और हवेली में दो खूबसूरत पुतलियाँ भी देखीं। कहा जाता है कि इनमें से एक अभी भी है। इन देखी गई तस्वीरों और बुतों का उनके मन पर गहरा असर था। इन चित्रों को वह कागज़ पर उतारते ही रहते थे। फौजी पिता उनके ऐसा करने से नाराज़ होते थे और कहते थे कि कलाकार नशेड़ी और चरित्रहीन होते हैं और अक्सर भूखे मरते हैं। लेकिन उनके बार-बार मना करने के बाद भी उन्होंने चित्रकारी छोड़ने से मना कर दिया। अपना बच्चा तो हर माँ-बाप को प्यारा होता है। उनके पिता कहते थे कि 'तू मेरा अकेला पुत्र है, जान तेरे में है नहीं, मैं कोई जागीरदार तो हूँ नहीं कि तेरा गुज़ारा चलता रहेगा। तू अपना निर्वाह कैसे करेगा, कुछ पढ़-लिख लोगे तो किसी दफ्तर में बाबू-साबू लग जाओगे और सुखी रहोगे।'

सरदार सोभा सिंह ने अपनी डायरी के पन्नों में आनेवाली पीढ़ी के माँ-बाप को संदेश दिया है कि यदि आपके बच्चे में कलाकार के गुण हैं तो उसकी सहायता करें। हो सके तो उसे उस दिशा में बढ़ने का मौका दें। सम्भवतः बच्चा आगे चलकर प्रकाश फैलाए।

एक बार इनके पड़ोस में शादी थी। बारात के स्वागत के लिए कुछ लिख कर लगाना था। 'आईए जी, आईयाँ नू'—उन्होंने लाल कपड़े में सुनहरी अक्षरों के कट अक्षर बनाकर यह स्वागत वाक्य लगा दिए जो कि बहुत सुन्दर लग रहे थे।

जब इनके पिता वहाँ शादी में आए तो कला के गुण तो उनमें भी विद्यमान थे। एकदम पूछ बैठे कि 'राम सिंगा ये किसने लिखा है? बहुत सुन्दर है।' उसने जवाब दिया, 'सोभा ने।' कला की तो उन्होंने तारीफ की, लेकिन सोभा सिंह को समझाने लगे कि भूखा मरेगा। शायद यहीं से इस महान कलाकार ने अपने पिता के खिलाफ जेहाद छेड़ दिया। यह साबित करने की मन में ठान ली कि कला जीवन के लिए है। कला की हर चीज़ जीवन के लिए है। ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा एवं धर्म ये सभी जीवन के उत्थान के लिए हैं।

सोभा सिंह को गुरु कृपा पर पूरा भरोसा था। एक बार उन्हें गुरु गोविन्द सिंह के जन्मोत्सव के सम्मेलन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। गुरु गोविन्द सिंह का जन्म उत्सव मनाने के लिए पन्द्रह दिन रह गए तो इन्हें डॉ. रंधावा तथा नालिब साहब से दो पत्र मिले कि 'दशम गुरु की दो तस्वीरें चाहिए, जिन्हें 14 जनवरी, 1967 से पूर्व चंडीगढ़ पहुँचाना है।' उन्होंने दिन-रात एक करके दो पेंटिंग्स बनाईं, जो 64"x54" आकार की थीं। उन्हें चंडीगढ़ पहुँचाने के लिए गाड़ी माँगी गई, लेकिन कोई इंतज़ाम नहीं हो सका। उस समय उनकी पत्नी बिस्तर पर बीमार पड़ी थीं, लेकिन चण्डीगढ़ चित्र लेकर जाना भी ज़रूरी था। किसी तरह गुरु का वास्ता देकर उन्होंने एक बस ड्राईवर को मना लिया। 14 जनवरी, 1967 को ये तस्वीरें लेकर वह चंडीगढ़ के अरोमा होटल पहुँचे। लेकिन वहाँ उनके रहने का कोई इंतज़ाम नहीं था। जैसे-तैसे कमरे का इंतज़ाम तो हुआ, लेकिन पता चला कि बैठक की तारीख आगे खिसका दी गई है। 15 जनवरी को उन्हें फोन आया कि उनकी धर्मपत्नी बीबी इन्द कौर अब नहीं रहीं। वे सबकुछ डॉ. रंधावा पर छोड़ कर 17 जनवरी को वापिस पहुँचे। तब तक दोस्तों ने ही सारे फर्ज़ अदा कर दिये थे। 17 जनवरी को चिता की राख ठण्डी नहीं हुई थी, इसलिए उस पर चंदन की चार लकड़ियाँ डाल कर जीवन साथी को अंतिम प्रणाम किया। पत्नी का चौथा दिन उठाला करके सोभा सिंह फिर चण्डीगढ़ पहुँच गए।

जुलाई 1967 में उन्हें पता चला कि बड़ी तस्वीर महाराजा पटियाला ले गए और छोटी तस्वीर पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला ने खरीद ली है। उन्हें तस्वीरों की स्थिति को देखकर बहुत रंज हुआ कि एक तस्वीर महल में तथा दूसरी वाईस चांसलर के कमरे में लगी है। क्योंकि वे चाहते थे कि ये तस्वीरें ऐसी जगह पर लगनी चाहिए जहाँ लोग इन्हें देख सकें। उन्होंने इस बहाने से कि तस्वीर अभी अधूरी है, महाराजा पटियाला से वह वापिस ले ली और इसकी कमियों को दूर करने के लिए तस्वीर अन्द्रेटा पहुँचा दी गई।

एक बार सन् 1971 में उन्हें लकवा की शिकायत हो गई थी। शरीर के दायें भाग ने काम करना बंद कर दिया था। डॉक्टरों के अनुसार इस उम्र में ठीक

होना कठिन था। उन दिनों गोद ली बेटी गुरचरण ने उनकी बहुत सेवा की। मालिशों तथा पौष्टिक भोजन से वे काफी ठीक अनुभव करने लगे। इस बीच वे गुरु से लगातार अरदास करते रहे कि अभी कुछ अधूरे चित्र पूरे करने को हैं। वाहे गुरु की कृपा से स्वस्थ होने पर उन्होंने सबसे पहले अधूरे चित्रों को ही पूरा किया। सोभा सिंह को पंजाबी बोली में बीवी शब्द सब शब्दों में मीठा संगीतमय और प्रेम भरा लगता था। बीवी शब्द का प्रयोग माँ, पत्नी, बेटी, बहन के लिए आसानी से हो सकता है। इसलिए अपनी धर्म बेटी गुरुचरण को बीवी गुरचरण कह कर पुकारते थे।

सन् 1943 में लगभग इक्कीस आदमियों की पार्टी अंद्रेटा आई। उन दिनों नोराह रिचर्ड पालमपुर हस्पताल में दाखिल थीं। डॉक्टर ने उनसे मिलने के लिए मनाही कर दी थी। क्योंकि वे बहुत बोलती थीं और बोलने से उनको काफी कमज़ोरी महसूस होती थी। नोराह ने उनके टोली लीडर गुरबख्श सिंह को संदेश भेजा कि 'वुड-लैंड इस्टेट में ठहरें। वहाँ लंगर का भी इंतज़ाम है। मेरा घर-बार आपके लिए हाज़िर है। मेरे नौकर-चाकर आपकी सेवा करेंगे।'

सोभा सिंह एक सप्ताह यहाँ रहने के बाद वापिस चले गए पर उनका मन अंद्रेटा के वातावरण में अटक गया। क्योंकि हिमालयी पर्वत शृंखला धौलाधार और चील के पेड़ों के जंगल के सौंदर्य से उनका दिल लबालब भरा हुआ था। उन्होंने कांगड़ा घाटी, मण्डी, सुकेत, कुल्लू, मनाली, सब जगह ज़मीन लेने की कोशिश की पर बात कहीं भी सिरे नहीं चढ़ी। क्योंकि कोई भी बाहर से आनेवाले को अपने गाँव में जगह नहीं देता था। उन्होंने नोराह रिचर्ड को पत्र में लिखा, 'मैं अंद्रेटा में रहना चाहता हूँ।' नोराह ने उन्हें उत्तर दिया कि 'यहाँ शहर में रहनेवाले को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। लेकिन फिर भी मैं आपका स्वागत करूँगी।'

सोभा सिंह अंद्रेटा पहुँचे और नोराह से मिले। उन दिनों नोराह के पास एक किराये का कमरा खाली हुआ था, जो तीस रुपये के किराये पर चढ़ा हुआ था। उन्होंने नोराह-रिचर्ड को संदेश पहुँचाया कि वह कमरा उन्हें दे दें। नोराह ने उत्तर में कहा कि 'यद्यपि मकान का किराया 30 रुपए मात्र है और आप क्योंकि कलाकार हैं, अतः आपको 15 रुपए में दिया जाएगा। सोभा सिंह वहाँ रहने लगे, लेकिन इस मकान में रहने के लिए काफी हिदायतों का पालन करना पड़ता था। कुछ महीनों तक वहाँ रहने के बाद उन्होंने मकान खाली कर दिया तथा सारे मकान की सफाई भी कर दी। नोराह रिचर्ड जब मकान देखने आई तो वहाँ सफाई आदि देखकर बहुत खुश हुई और किराये के कुछ पैसे वापिस लौटा दिये।'

सोभा सिंह कवि भी थे। उन्होंने इक्कीस के लगभग कविताएँ पंजाबी में लिखीं। उनकी एक कविता का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है–

उड़ी दबी निराशा और
बाढ़ आई आशाओं की
दब गई कला और अकड़ दिमाग की
खुल गई हर कली शुभ आशाओं के बाग की
नसें मांसपेशियाँ और रेशे एक साथ हुए
मनुष्य की छेड़छाड़ से दूर हैं
पंखों के बिना ही उड़ा मैं अर्शों पर
अर्श भी आ गया धरती के फर्शों पर

चित्र निर्माण तथा कविताओं के अलावा उन्होंने एफ.ए. आर्ट की लड़कियों को पढ़ाने का कार्य भी किया। वे इंग्लैंड भी गए। वहाँ सिखों की दशा और दिशा देखकर उनको बहुत निराशा हुई थी। सन् 1972 में वह हिमाचल प्रदेश यूनिवर्सिटी कोर्ट के सदस्य बने। 1973 में सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय द्वारा उन पर एक दस्तावेज़ी फिल्म 'लोका दा कलाकार' बनाई गई, जो लगभग सभी भारतीय भाषाओं में डब की गई। 1983 में बी.बी.सी. लंदन ने उन पर एक और दस्तावेज़ी फिल्म बनाई। 8 मार्च, 1985 को पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला द्वारा भारत के इस महान कलाकार को डॉक्टर ऑफ लिट्रेचर की उपाधि से सम्मानित किया गया। ज़िन्दगी के आखिरी लम्हों में उनकी बेटी गुरचरण ने पूरी लगन से उनकी सेवा की। वे भी अपना सबकुछ बेटी को सौंप कर 22 अगस्त, 1986 को स्वर्ग सिधार गए।

प्रतिवर्ष उनकी पुण्य तिथि को गाँव अंद्रेटा में बच्चों की चित्रकारी प्रतियोगिता आयोजित करके उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। बीबी गुरचरण और उनका बेटा सरदारजी की यादों को ताज़ा रखते हुए कला के शौकीन व्यक्तियों के लिए सोभा सिंह कॉटेज में बनाई गई गैलरी को प्रातः 10 बजे से सायं 5 बजे तक खोलते हैं।

विश्व कला के महान युगों की धरोहर

हरमन गोएत्स

पंजाब हिमालय की उतुंग घाटियों का भ्रमण केवल बरसात के मौसम के अंत में ही किया जा सकता है, उस समय भी ये घाटियाँ मध्य एशिया की ओर से आनेवाली ठण्डी हवाओं तथा बर्फ़ानी तूफान से प्रभावित रहती हैं। इन घाटियों की तलहट्टियाँ मात्र घास से आच्छादित रहती हैं और कहीं-कहीं नैसर्गिक सौंदर्य से परिपूर्ण वनस्पति जीवन तथा कृषि योग्य भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े भी दृश्यमान होते हैं। चहुँ ओर देवदार के सदाबहार वन, जलप्रपात व हिमनद देखे जा सकते हैं और पीछे भीतरी हिमालय की गगनचुम्बी हिमाच्छादित शृंखलाएँ या फिर धूसर धुंध, जिसके ऊपर श्याम मेघ विचरण कर रहे होते हैं। गडरिये-कृषक, तिब्बती-भारतीय, लामा-हिन्दू एक-दूसरे से जूझते प्रतीत होते हैं। राजनीतिक दृष्टिकोण से पिछड़ी, परन्तु खूबसूरत इन घाटियों का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है, क्योंकि मध्य एशिया के घुड़सवारों द्वारा इन्हें अनेक बार रौंदा गया और उतनी ही बार भारतीय कृषकों, व्यापारियों, राजपूतों तथा साधु-संतों द्वारा इन्हें पुनः आबाद किया जाता रहा।

इसके आगे तिब्बत की पर्वत शृंखलाएँ आती हैं। यहाँ पर बड़े-बड़े ऊसर समतल रेगिस्तान तथा रमणीय झीलें विद्यमान हैं। इस क्षेत्र को निचली पर्वतमालाएँ अन्य क्षेत्रं से विलग करती हैं, परन्तु कभी-कभी जंगली नखलीस्तान में ये घाटियाँ ओझल-सी हो जाती हैं। इस भू-भाग में घुमंतुओं के कारवाँ, लामाओं के मठ तथा छोटे-छोटे व्यापारिक कस्बे देखे जा सकते हैं।

यद्यपि इस भू-भाग के अन्य क्षेत्र भी अनुसंधान की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु यहाँ पर वन्य क्षेत्र की अतिरुचिकर समस्याएँ नृवंशवेत्ताओं, इतिहासकारों तथा पुरावेत्ताओं की प्रतीक्षा में हैं। हिम पर्वतमालाओं तथा शिवालिक पहाड़ियों के मध्य की बाहरी उपजाऊ पहाड़ियों में हमें कुषाण तथा गुप्त काल से लेकर 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित काँगड़ा कलम तथा

प्राचीन एवं हिन्दू सभ्यता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अंतरतम क्षेत्र का उभरा हुआ ऊसर भू-भाग हिन्दू तथा तिब्बती सभ्यताओं के पारस्परिक प्रभाव का स्थल रहा है। मध्यवर्ती क्षेत्र, जो एक अलग घाटी के रूप में अवस्थित है और ऊँचे पर्वतों तथा सघन वनों से घिरा हुआ है, ही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ पर मानव तथा सभ्यताओं के ऐसे रुचिकर प्रमाण सुरक्षित हैं जो कहीं अन्यत्र या तो लुप्तप्रायः हैं या फिर यत्र-तत्र बिखरे अवशेषों में तलाशे जाने शेष हैं। इस क्षेत्र के अन्तर्गत चम्बा का विशेष महत्त्व है; क्योंकि ऊपरी रावी तथा मध्य चन्द्रभागा घाटियों में नैसर्गिक परिरक्षण बड़ा प्रभावशाली रहा है। परिणामतः चम्बा में अनेक ऐसे स्मारक विद्यमान हैं जो भारतीय इतिहास तथा कला सम्बंधी कतिपय दुरूह एवं संवेदनशील अध्यायों पर प्रकाश डालते हैं। इनमें चम्बा के तीन मंदिर–भरमौर, छतराड़ी तथा मृकुला देवी (उदयपुर) भी उल्लेखनीय हैं।

सुगंधित देवदार के भारी-भरकम शहतीरों से निर्मित हिन्दू मंदिर यहाँ पर सातवीं तथा आठवीं शताब्दी के प्राचीन प्रमाण हैं। भले ही एक से अधिक बार इनका जीर्णोद्धार किया गया होगा, परन्तु बारह-तेरह सौ वर्ष पूर्व के प्रमाणों के रूप में इन काष्ठ-मंदिरों का अस्तित्व अपने आप में किसी आश्चर्य से कम नहीं है। इन मंदिरों को काष्ठ पर सुन्दर चित्रकारी से भी सुसज्जित किया गया है और इनके भीतर पीतल की तत्कालीन मूर्तियाँ स्थापित हैं, जो कला की दृष्टि से अजन्ता, एलोरा तथा औरंगाबाद के बौद्ध एवं हिन्दू गुफा-मंदिरों में स्थापित मध्य एशिया की कला से किसी भी प्रकार कम महत्त्व नहीं रखतीं और भारतीय कला सम्बंधी ज्ञान की दिशा में अमूल्य निधि हैं। दक्षिण भारत के उन स्मारकों का उल्लेख गुप्तकालीन तथा उनके उत्तराधिकारियों, वकाटक, चालुक्य तथा राष्ट्रकूट कालीन भारतीय कला के स्वर्ण युगान्तर्गत की कृतियों के रूप में आमतौर पर किया जाता रहा है।

गहन अध्ययन करने पर यह विषय और अधिक रुचिकर होता जाता है। पाँचवीं शताब्दी के मध्य से गुप्त साम्राज्य आक्रांताओं के आक्रमणों से लड़खड़ाना आरम्भ हो गया था। आक्रांताओं द्वारा बिहार, मालवा तथा गुजरात तक इस क्षेत्र को अस्थायी रूप से तहस-नहस कर दिया गया था। रोम साम्राज्य की भांति गुप्त सभ्यता को भी हूणों, गुर्जरों तथा अन्य अर्धघुमन्तू कबायलियों के अनुभवों से कई सदियों तक जूझना पड़ा था, परन्तु परिणामस्वरूप प्रगतिशील सैन्यकरण तथा आक्रांताओं का उनके अपने-अपने स्तर पर यहाँ अन्तर्लयन हो गया।

जहाँ हम दक्खन, दक्षिण और मध्य भारत में इस काल की कला के सम्बंध में पर्याप्त जानकारी रखते हैं, वहीं उत्तरी भारत में गुप्तवंशजों के मध्य हुए युद्धों, मिहिरगुल तथा तोरमान, प्रतिहारों के नेतृत्व में गुर्जरों के आक्रमणों तथा पूर्व से पाल राजाओं, दक्षिण से राष्ट्रकूटों, फिर मध्य एशिया से चंदेल वंशों व अंत में मध्य एशिया

से एक के बाद एक मुस्लिम आक्रांताओं द्वारा इस क्षेत्र को तहस-नहस किया गया। इस विध्वंस से इधर-उधर बिखरे छुट-पुट प्रमाणों को एकत्र कर कला की जानकारी प्राप्त करनी होगी। परन्तु इस प्रकार से प्राप्त इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह भारतीय कला का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं रुचिकर चरण था। इस दौरान न केवल मध्यकालीन हिन्दू कला, अपितु ग्रेटर इंडियन तथा बौद्ध-चीनी कलाओं की भी नींव रखी गई थी।

पंजाब में समस्त ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक दस्तावेज़ों को इस विध्वंस में क्रूरतापूर्ण आक्रमणों के समाघात उत्तरोत्तर झेलने पड़े और इन्हें बुरी तरह तहस-नहस किया गया। परन्तु पंजाब के इस भू-भाग में हमें कलात्मक दृष्टि से समृद्ध तथा उपयुक्त पद्धति से परिरक्षित कुछेक काष्ठ-मंदिरों तथा उनमें स्थापित पीतल की मूर्तियों के दर्शन होते हैं। हम भीतरी पहाड़ियों की नैसर्गिक विलगता के आभारी हैं, जिसके फलस्वरूप भारत के उस पूर्वकाल से सम्बंध रखनेवाले ये मंदिर सुरक्षित रह पाए हैं, जिसके बारे में हम अब तक प्रायः कुछ भी नहीं जानते थे।

यद्यपि हमें ऐतिहासिक प्रमाणों के छोटे-छोटे तथा यत्र-तत्र बिखरे इन शेष मोतियों को चुन-चुनकर इतिहास रूपी टूटी हुई माला में पिरोना पड़ा, तथापि पंजाब हिमालय का कला इतिहास हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व रखता है। यहाँ से प्राचीन श्रेष्ठतम कलाकृतियाँ नष्ट हो जाने के उपरांत, उनकी श्रुत्यावृत्ति या छाया को ही प्रांतीय कला में उनका स्थान लेना पड़ा। जिस प्रकार पौंपई में फटे ज्वालामुखी के खण्डहरों को बिना छेड़-छाड़ के भावी पीढ़ी के लिए परिरक्षित किए जाने से हमें रोम-साम्राज्य की सभ्यता की एक दुर्लभ झलक मिलती है अथवा जिस प्रकार अजन्ता के भित्तिचित्र मध्य भारत के कुछ अगम्य मठों में हमें गुप्त तथा चालुक्य काल की भव्य कला का बोध कराते हैं, ठीक उसी प्रकार बर्फ़ीली पर्वत शृंखलाओं तथा हिमालय के दर्रों में परिरक्षित भरमौर तथा छतराड़ी के मंदिर व मूर्तियाँ उत्तर गुप्तकालीन कला का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे नेपाल, ग्रेटर इण्डिया तथा पूर्वी तुर्कीस्तान, चीन व जापान की कला का प्रारम्भिक स्रोत माना जाता है। एकांत लाहुल के उदयपुर में अवस्थित मृकुला देवी मंदिर उस उत्तरवर्ती कश्मीरी लुप्तप्रायः कला का अंतिम प्रमाण है, जो तिब्बती परम्परा के प्रमुख स्रोतों में एक थी। इसलिए ये मंदिर तथा मूर्तियाँ स्थानीय अभिरुचि के अतिरिक्त अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं। ये एशिया तथा विश्व कला इतिहास के महान युगों की कुंजियाँ हैं।

एंटिक्विटीज़ ऑफ द पंजाब हिल डिस्ट्रिक ऑफ चम्बा, 'मार्ग' से अनूदित अंश

हिमाचल का मंदिर वास्तुशिल्प

किशोरी लाल वैद्य

हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक स्थिति, जलवायु, भवन निर्माण के स्थानीय स्रोत, जन-जीवन की धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताएँ, शासन-तंत्र आदि कुछ ऐसे मूलभूत तत्त्व हैं, जिनके आधार पर हिमालय के इस भू-भाग में मंदिर-स्थापत्य का अनेकविध स्वरूप बना है।

हिमाचल के सन्दर्भ में मंदिर स्थापत्य के इतिहास और परम्परा के अन्तर्गत किन्हीं शैलियों के विवेचन से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि सम्पूर्ण भारत में कौन-सी प्रमुख शैलियाँ प्रचलन में रही हैं। इस प्रकार की तीन शैलियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध क्रमशः उत्तरी भारत, मध्य भारत और दक्षिणी भारत से है। उत्तरी भारत अर्थात् विंध्य पर्वतमाला से ऊपर के भाग में नागर शैली का उद्भव और विकास हुआ। यह शैली 'आर्यवर्त शैली' के नाम से भी अभिहित है। दूसरी चालुक्य शैली कहलाती है, जो उत्तर और दक्षिण के मध्य क्षेत्र अर्थात् पश्चिम भारत, दक्षिण और मैसूर का प्रतिनिधित्व करती है। तीसरी द्रविड़ शैली के नाम से ज्ञात है, जिसका सम्बंध तमिलनाडु और उत्तरी श्रीलंका से है।

उत्तरी भारत के पूर्व से पश्चिम तक फैले हिमालय के वृहद् क्षेत्र से निकल कर यदि हम अपना ध्यान पश्चिमी हिमालय अर्थात् हिमाचल के भू-भाग पर केन्द्रित करें तो पाएँगे कि नागर शैली के मध्यकालीन (सातवीं से तेरहवीं शती तक) मंदिरों में जो देवालय इस प्रदेश में स्थित हैं; मुख्य राष्ट्रीय धारा से सम्पृक्त होने पर भी उनकी स्थानीय विशेषताओं से युक्त अपनी एक विशिष्ट पहचान है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व जब हिमाचल प्रदेश का गठन नहीं हुआ था, यह क्षेत्र 'पंजाब हिमालय' के नाम से जाना जाता था। सन् 1948 में विशाल पर्वतीय क्षेत्र की छोटी-बड़ी रियासतों के विलय से हिमाचल प्रदेश अस्तित्व में आया और 1971 में स्वतंत्रता पूर्व की लगभग 45 रियासतों वाले इस प्रदेश को देश के अन्य

राज्यों के सदृश पूर्ण राज्यत्व का दर्जा प्राप्त हुआ। स्वतंत्रता पूर्व भी इस पर्वतीय क्षेत्र की सांस्कृतिक दृष्टि से एक निजी पहचान रही है। भाषाई आधार पर ही नहीं, प्रत्युत् कला-संस्कृति के आधार पर भी, इस प्रकार की एकता और समरसता का परिचय यहाँ की सम्पूर्ण जीवन शैली में मिलता है। इस सांस्कृतिक अस्मिता के क्षेत्र में हिमाचल का मंदिर-स्थापत्य और पहाड़ी चित्रकला दो ऐसी कला-विधाएँ हैं, जिन्हें समग्र भारत में ही नहीं, प्रत्युत् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रभूत मान्यता प्राप्त हुई है। ये दोनों विधाएँ राष्ट्रीय अस्मिता और गौरव को भी प्रतिध्वनित करती हैं।

अनुमानतः हिमाचल प्रदेश में सभी छोटे-बड़े मंदिरों की कुल संख्या लगभग 6000 है। लेकिन ऐसे मंदिर, जो किसी विशिष्ट आकार की परिचायक संरचनाएँ हैं, उनकी संख्या 2000 के आस-पास आँकी गई है। इन मंदिरों के विश्लेषण से पूर्व इन्हें स्थापत्य की दृष्टि से प्रमुखतः ग्यारह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : 1. शिखर (नागर शैली) 2. पैगोडा (मेरु) शैली 3. गुम्बद शैली 4. पिरामिड शैली 5. ढलवाँ आच्छादन (छत) शैली 6. समतल आच्छादन शैली 7. मीनार (टावर, दुर्ग, बुर्ज आदि) शैली 8. बौद्ध विहार अथवा गोन्पा शैली 9. गुहा शैली, 10. देशज शैली तथा 11. मिश्रित शैली।

ये सभी शैलियाँ अपना-अपना स्वरूप लिए हुए हैं और इनकी विशेषताओं के अनुरूप इनकी पहचान बनी हुई है। सर्वप्रथम मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से हिमाचल प्रदेश के शिखर शैली के परिचायक मंदिरों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है। चूँकि इनमें आठवीं से तेरहवीं शती तक की संरचनाएँ पुरातात्त्विक धरोहर के रूप में आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं।

नागर अर्थात् शिखर शैली का सम्बंध उत्तरी भारत अर्थात् विंध्य पर्वतमाला के उत्तर में स्थित उस भू-भाग से है, जिसमें पंजाब, राजस्थान, पश्चिमी भारत (अविभाजित भारत का पश्चिमी भाग), गंगा घाटी, मध्य प्रदेश और उड़ीसा सम्मिलित हैं। उल्लेखनीय है कि डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक *'हिस्ट्री ऑव इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट'* में जिस पंजाब हिमालय का उल्लेख मंदिर और मूर्तिकला के संदर्भ में किया है, वह वर्तमान का हिमाचल प्रदेश है–

A considerable series of Nagar temples is found in the Punjab Himalayas. The most important of these is the eight or ninth century monolithic group at Masrur, Kangra structural temples apparent of the ninth century are found at Baijnath where the mandapam has an interesting balcony window and the porch is provided with elegant columns having cylindrical shafts and pot and foliage capitals.

(Comaraswamy. Ananda K : History of Indian and Indonesian Art. Dover Publications. New York, 1965)

इस संदर्भ में जिन मध्यकालीन मंदिरों और मूर्तियों ने उनका ध्यान आकृष्ट किया, वे इस प्रकार हैं : मसरूर (कांगड़ा) का एकाश्मक मंदिर समूह (आठवीं या नवीं शताब्दी), बैजनाथ मंदिर (बैजनाथ, कांगड़ा नवीं शती), विश्वेश्वर (बजौरा, कुल्लू, दसवीं शताब्दी), लक्षणा देवी और छतराड़ी देवी मंदिर (भरमौर, चम्बा), शक्ति देवी, गणेश एवं नंदी की मूर्तियाँ (मेरु वर्मन कालीन आठवीं शती) तथा मुंझणी देवी का मोहरा (निर्मण्ड, कुल्लू–राजा हेम प्रकाश कालीन नवीं या दसवीं शती)।

उपर्युक्त संरचनाएँ एवं मूर्तियाँ हिमाचल प्रदेश की पुरातात्त्विक धरोहर के प्रमुख मूर्त्त प्रमाण हैं। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने समूचे भारत में जिन 3612 स्मारकों को राष्ट्रीय महत्त्व का घोषित किया है, उनमें हिमाचल प्रदेश के स्मारक परिगणित हैं–

ज़िला चम्बा : 1. गणेश मंदिर (भरमौर), 2. लक्षणा देवी मंदिर (भरमौर), 3. मणिमहेश मंदिर (भरमौर), 4. नरसिंह मंदिर (भरमौर), 5. ब्रजेश्वरी मंदिर (चम्बा), 6. बंसी गोपाल मंदिर (चम्बा), 7. चामुण्डा देवी मंदिर (चम्बा), 8. हरिराय मंदिर (चम्बा), 9. लक्ष्मी नारायण मंदिर समूह (चम्बा), 10. शैलोत्खनित मूर्ति शिल्प सरौंता (चम्बा), 11. सीता राम मंदिर (चम्बा), 12. शक्ति देवी मंदिर (छतराड़ी), 13. चम्पावती मंदिर (चम्बा)।

ज़िला हमीरपुर : 14. कटोच महल (टीहरा सुजानपुर), 15. नर्वदेश्वर मंदिर (टीहरा सुजानपुर)।

ज़िला काँगड़ा : 16. आशापुरी मंदिर (जयसिंहपुर), 17. बैजनाथ मंदिर (बैजनाथ), 18. सिद्ध नाथ मंदिर (बैजनाथ), 19. बौद्ध स्तूप (चैतड़ू), 20. लॉर्ड एल्गिन की टॉम्ब (धर्मशाला), 21. काँगड़ा दुर्ग (काँगड़ा), 22. एकाश्म शैलोत्खनित मंदिर समूह (मसरूर), 23. कोटला का किला (नूरपुर तहसील) 24. खनियारा का शिलालेख (काँगड़ा), 25. पठिहार शिलालेख (पालमपुर), 26. नूरपुर का किला (नूरपुर)।

ज़िला सिरमौर : 27. शिव मंदिर (मानगढ़),

ज़िला मंडी : 28. बरसेला स्मारक (मंडी), 29. त्रिलोकनाथ मंदिर (मंडी), 30. पंचवक्त्र मंदिर (मंडी), 31. अर्धनारीश्वर (मंडी),

ज़िला लाहुल-स्पीति : 32. मृकुला देवी मंदिर (उदयपुर), 33. ताबो बौद्ध विहार (स्पीति), 34. फू गोन्पा (ताबो, काज़ा)।

ज़िला कुल्लू : 35. हिडिम्बा देवी मंदिर (मनाली), 36. शिव मंदिर

(जगतसुख), 37. गौरी शंकर मंदिर (दसाल), 38. विश्वेश्वर महादेव मंदिर (बजौरा), 39. गौरी शंकर मंदिर (नगर)।

उपर्युक्त राष्ट्रीय महत्त्व के मंदिरों की सूची भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, लघु मण्डल शिमला द्वारा प्रकाशित *'हिमाचल स्मारक वैभव'* पुस्तिका के सौजन्य से यहाँ उद्धृत की गई है।

रचना-काल की दृष्टि से हिमाचल में विद्यमान मंदिरों को मुख्यतः तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है—1. प्राचीन मंदिर (आठवीं शती तक), 2. मध्यकालीन मंदिर (नवीं से तेरहवीं शती तक) और 3. मुगल एवं राजपूतकालीन मंदिर (चौदहवीं से उन्नीसवीं शती के मध्य) तक।

मंदिर स्थापत्य के सन्दर्भ में हिमाचल के मंदिरों का उपर्युक्त वर्गीकरण विशुद्ध राजनैतिक इतिहास पर आधारित नहीं है, चूँकि किसी भी कला की अपनी एक पृष्ठभूमि होती है और अपने विकास के चरम-बिन्दु की प्राप्ति पर उसका ग्राफ स्वभावतः नीचे की ओर ढलना शुरू होता है। लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि अपनी यात्रा के अंतिम चरण पर पहुँचकर अथवा यों कहें कि काल कवलित होने पर वह कला किसी भी राष्ट्र के सांस्कृतिक इतिहास के एक अभिन्न अंग अथवा एक सम्पूर्ण अध्याय के रूप में जीवंत बनी रहती है। अतः किसी कला शैली के वर्तमान स्वरूप की यदि कोई निजी पहचान है तो उसकी पृष्ठभूमि में उसका अतीत भी छिपा रहता है और एक अप्रत्यक्ष भविष्य भी सुनिश्चित रहता है।

हिमाचल की पुरातत्त्व धरोहर का प्राचीनतम साक्ष्य पालमपुर तहसील (ज़िला कांगड़ा) के पठिहार नामक स्थान पर एक शिलालेख के रूप में देखने में आया है, जिसे पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर द्वितीय शती ईसा पूर्व से सम्बंधित माना गया है। इस शिलालेख में एक सरोवर के निर्माण का उल्लेख है, जिसे वायुला नामक व्यक्ति द्वारा निर्मित किया गया था। यह आलेख ब्राह्मी अथवा खरोष्ठी लिपि में अंकित है।

एक अन्य पुरातात्त्विक अवशेष खनियारा (तहसील पालमपुर, ज़िला कांगड़ा) में पाया गया है। यह शिलालेख द्वितीय शती ईसवी से सम्बंधित है। यह एक ग्रेनाइट शिला (चट्टान) पर संस्कृत व प्राकृत भाषा में खरोष्ठी व ब्राह्मी लिपि में अंकित है। इस शिलालेख में कृष्णायास नामक व्यक्ति द्वारा एक बौद्ध विहार के निर्माण का उल्लेख है।

उपरोक्त दो शिलालेख प्राचीन बौद्ध विहार और सरोवर के अस्तित्व का महत्त्वपूर्ण संकेत देते हैं, लेकिन इनमें उल्लिखित संरचनाएँ अब अस्तित्व में नहीं हैं या कह लें कि उनके सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी प्राप्त नहीं है।

शिखर (नागर) शैली

शिखर शैली के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्नलिखित मंदिरों को सम्मिलित किया जा सकता है। ये मंदिर ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं–

1. **शिव मंदिर, मसरूर, काँगड़ा :** आठवीं शती का यह मंदिर हिमाचल प्रदेश में शिखर (नागर) शैली का एक मात्र शैलोत्कीर्ण एकाश्म मंदिर है। यद्यपि यह खंडित अवस्था में है, लेकिन एक महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक धरोहर के रूप में इसका अपना आकर्षण है।
2. **विश्वेश्वर महादेव मंदिर, बजौरा, कुल्लू :** आठवीं, नवीं शती में निर्मित हिमाचल प्रदेश में शिखर शैली की यह एक अतीव सुन्दर, अद्वितीय संरचना है, जो अपने मौलिक रूप में संरक्षित है।
3. **रंगनाथ मंदिर, बिलासपुर :** नवीं शताब्दी में निर्मित शिखर शैली की यह एक भव्य संरचना है, जो अब गोविंद सागर में जल-मग्न है। गर्भगृह के शिवलिंग तथा नंदी की प्रस्तर प्रतिमा को बिलासपुर के नए नगर में निर्मित मंदिर में स्थानांतरित करके स्थापित किया गया है।
4. **लक्ष्मी नारायण मंदिर, चम्बा :** 920 ईसवी से 940 ईसवी के मध्य निर्मित छह देवालय एक पांत में संयोजित हैं। राजा शैल (साहिल) वर्मा द्वारा स्थापित इस मंदिर समूह में गौरी-शंकर का मंदिर युगाकर वर्मा (940 ई.) के राज्यकाल में निर्मित हुआ। राधा-कृष्ण का मंदिर राजा अजीत सिंह (1794-1808 ई.) की रानी शारदा द्वारा स्थापित किया गया था। एक मंदिर चंद्रशेखर को समर्पित है। एक अन्य संरचना लक्ष्मी दामोदर के नाम से ज्ञात है। इसमें राजा श्याम सिंह (1873-1903) द्वारा मूर्ति की स्थापना की गयी थी।
5. **सूर्य मंदिर, नीरथ, ज़िला शिमला :** मूल संरचना अनुमानतः दसवीं-ग्यारहवीं शती की है। सत्रहवीं-अठारहवीं शती में इस मंदिर का पुननिर्माण हुआ है।
6. **अर्द्धनारीश्वर मंदिर, मंडी :** पंद्रहवीं शती में निर्मित मंडी नगर के आरंभिक (प्राचीन) नागर शैली के मंदिरों में यह एक विशिष्ट संरचना है। मुस्लिम आक्रांताओं द्वारा ध्वस्त होने पर कालांतर में मंडी के शासकों ने आंशिक रूप से इसका जीर्णोद्धार किया था। सभा-मण्डप बिना आच्छादन का है। वर्तमान में यह मंदिर भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित है। मंदिर का परिक्रमा-पथ, अवैध अतिक्रमण से दर्शनार्थियों के लिए अवरुद्ध है।
7. **बैजनाथ मंदिर, कांगड़ा :** 1204 ईसवी में जालंधर-त्रिगर्त के राजा जयचन्द्र के राज्यकाल में मण्युक और आहुक नामक दो धनिकों द्वारा निर्मित यह हिमाचल प्रदेश में शिखर शैली की परिचायक एक श्रेष्ठ संरचना है।

द्वार-मण्डप, सभा मण्डप, अन्तराल और विमान युक्त गर्भगृह से सम्पूर्ण यह एक सुविख्यात मंदिर है।

8. **त्रिलोक नाथ मंदिर, मंडी :** मंदिर में अवस्थित एक शिलालेख के अनुसार इसका निर्माण राजा अजबर सेन (1499-1534 ई.) द्वारा 1527 ई. में हुआ था। हिमाचल में शिखर शैली के ऐतिहासिक मंदिरों में आकार की दृष्टि से इसे बैजनाथ के बाद द्वितीय स्थान पर रखा जा सकता है। इस संरचना में गर्भगृह, अंतराल और एक विस्तृत मण्डप संयोजित हैं। मण्डप के चारों कोनों पर सुदृढ़ता हेतु वप्र निर्मित हैं, जिनसे मंदिर की शोभा में अभिवृद्धि हुई है। मंदिर की सम्पूर्ण दीवारें अनेक आकृतियों और अभिप्रायों से सुसज्जित हैं। मंदिर के बाहर-भीतर अनेक भव्य मूर्तियाँ हैं। गर्भगृह में त्रिमुखी शिव-पार्वती सहित नंदी पर प्रतिष्ठित हैं। बाह्य भित्ति में दो पांतों में निर्मित आले उमा-महेश्वर, महिषासुर मर्दिनी और नृत्यरत प्रतिमाओं से सुशोभित हैं। अन्तराल के बाह्य भाग में शुकनासिका अवस्थित है और भद्रमुख संयोजित है। मंदिर का प्रवेश-द्वार गजतोरण से अलंकृत है, जिसमें हाथियों को मस्तकाभिषेक की मुद्रा में दर्शाया गया है।

मंदिर के सभा-मण्डप के दोनों पार्श्व बहिर्निःसृत गवाक्ष तथा उत्कीर्णन से शोभित हैं। मुख्य मूर्ति के अतिरिक्त अनेक ऐसी मूर्तियाँ हैं, जो अनायास ध्यान आकर्षित करती हैं। सभा-मण्डप में विष्णु, चतुर्भुज गणेश, भैरव, काली, नारदा-शारदा तथा शिव-परिवार की प्रतिमाएँ उन्मुक्त रूप से दर्शनीय हैं। सभा-मण्डप में गर्भगृह की ओर उन्मुख नंदी की एक अत्युत्तम प्रतिमा द्रष्टव्य है। नंदी के पिछली ओर पूँछ पकड़े हुए एक बाल आकृति पाद-स्वस्तिक मुद्रा में संयोजित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में लगभग सभी मंदिरों के लिए यह मूर्ति एक आदर्श सिद्ध हुई। मंदिर के मुख्य प्रवेश-द्वार के सामने महावीर हनुमान की एक भव्य प्रतिमा है। उनके पैरों के नीचे अपस्मार राक्षस दबा पड़ा है। यह अद्‌भुत मूर्ति विश्वविख्यात नटराज की मूर्ति का स्मरण करवाती है, जिसमें नृत्यरत शिव अपने एक पैर से उस अपस्मार पुरुष का दमन करते हुए दिखाई देते हैं, जो अज्ञान, अविद्या, दुष्प्रवृत्तियों, बाधाओं और अमंगल का प्रतीक है।

9. **भूतनाथ मंदिर, मंडी :** यह मंदिर राजा अजबर सेन (1499-1534 ई.) द्वारा 1526 ईसवी में बनवाया गया है। मंडी नगर के केन्द्र में स्थापित यह मंदिर नगर-निवासियों के लिए उनकी दैनिक चर्या में सर्वाधिक महत्त्व रखता है। शिवरात्रि के अतिरिक्त वर्ष-भर में मनाये जानेवाले तीज-त्योहारों पर भी यहाँ

श्रद्धालुओं का तांता लगा रहता है। शिखर शैली की इस संरचना में शिखरयुक्त गर्भगृह, सभा-मण्डप, अन्तराल और प्रवेश द्वार (अर्द्धमण्डप) संयोजित हैं। गर्भगृह में स्वयंभू शिवलिंग की प्रतिमा है। शिखर के मध्यभाग अर्थात् अंतराल के ऊपर त्रिमुखी भद्रमुख और उससे किंचित् ऊपर शक्ति के वाहन सिंह की प्रतिमा द्रष्टव्य है। शिव के वाहन नन्दी की प्रतिमा मंदिर द्वार (अर्द्धमण्डप) की ओर उन्मुख एक आयताकार अधिष्ठान पर खड़ी है। नन्दी की पूँछ पकड़े हुए एक वाल आकृति मुख्य प्रवेश द्वार की ओर चतुरस्र पाद मुद्रा में खड़ी है।

10 **पंचवक्त्र मंदिर, मंडी :** मंडी के प्राचीन मंदिरों में पंचवक्त्र मंदिर एक विशेष स्थान रखता है। पंचवक्त्र महादेव को समर्पित यह शिवालय विपाशा (व्यास) नदी और सुकेती उपनदी के सुरम्य संगम पर अवस्थित है। शिखर शैली की यह रमणीय संरचना मंडी नगर में स्थित त्रिलोकनाथ और अर्द्धनारीश्वर सहित तीन प्रमुख पुरातात्त्विक महत्त्व के मंदिरों में से एक है। त्रिलोकनाथ विपाशा नदी के दायें तट पर अवस्थित है और उसी के सामने बायें तट पर पंचवक्त्र है। इस संगम के आस-पास नदी तट पर अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ है, जिससे इस स्थली की पवित्रता उजागर होती है। पंचवक्त्र मंदिर में शिखरयुक्त गर्भगृह, विशाल सभा मण्डप और दोनों के मध्य एक अन्तराल है, जो उपर्युक्त प्रमुख संरचनाओं के अनुरूप त्रिमुखी भद्रमुख से अलंकृत है।

पन्द्रहवीं शती की इस संरचना का शिखर उपर्युक्त प्राचीन मंदिरों के समान ही वक्ररेखीय और पंचरथी है। शिखर के चारों कोने नौ-नौ भूमि आमलकों से सज्जित हैं। सभा-मण्डप के दोनों पक्ष चैत्य गवाक्षों से अलंकृत हैं। वाह्य भित्ति की दीवार पर मंदिर की आकृति में मूर्तियुक्त आले बने हैं। मण्डप के वाहरी कोणों पर शिखरयुक्त, उत्तुंग, लम्बाकार प्रक्षेपण निर्मित हैं, जो समूची संरचना, विशेषतया सभामण्डप को सम्पुष्ट, सम्वर्द्धित और सुसज्जित करते हैं। यह विशेषता पूर्वोक्त त्रिलोकनाथ और अर्द्धनारीश्वर मंदिर में भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार त्रिलोकनाथ और भूतनाथ की नाईं इस मंदिर के मण्डप का आच्छादन भी पिरामिडी आकार का है, जिसे भारतीय मंदिर वास्तु की शव्दावली में मेरु कहा गया है। मेरु आकार की संरचना में आधार वर्गाकार रहता है और ढलवाँ आच्छादन के चारों पक्ष ऊपर उठते हुए शीर्ष के केन्द्र-बिन्दु पर एक साथ समन्वित हो जाते हैं।

पंचवक्त्र मंदिर का मुख्य आकर्षण गर्भगृह में स्थापित भगवान् शिव की पंचानन प्रतिमा है, जिसमें चारों दिशाओं की ओर अभिमुख चार द्विभुजी आकृतियाँ संयोजित हैं और चार मुखों के मध्य पाँचवाँ ऊर्ध्व मुख है। शिव

के ये पाँच मुख पाँच तत्त्वों–जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश के प्रतीक हैं। इस अनूठी पंचवक्त्र की प्रतिमा में शिव की वाम जंघा पर बैठी पार्वती (शक्ति) को आलिंगनबद्ध दर्शाया गया है। सर्पमाल और मुंडमाल आभूषण स्वरूप उनके अलंकरण हैं। शीर्ष जटाजूट और मस्तक त्रिपुंड से सज्जित हैं।

11. **गौरीशंकर मंदिर, जगतसुख, कुल्लू :** भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा संरक्षित शिखर शैली का यह लघु मंदिर हिमाचल के प्राचीनतम मंदिरों में से एक है। पुरातत्त्व विभाग ने इस संरचना को इसकी खंडित अवस्था से उबारा है। जीर्णोद्धार करने की प्रक्रिया में इसका मौलिक स्वरूप प्राप्त हुआ है, जो दर्शनीय है। इसका वक्ररेखीय शिखर उत्कीर्ण पत्थरों से निर्मित है। शिखर-शीर्ष आमलक से सज्जित है। गर्भगृह के आगे एक छोटा-सा द्वार-मंडप है। इसके मुखभाग में ऊपर की ओर त्रिमुखी भद्रमुख और नीचे की ओर योगासन में शिव की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। गर्भगृह की वाह्य भित्ति पर दायीं ओर के देवकोष्ठ में चतुर्भुज ब्रह्मा और बायीं ओर के देवकोष्ठ में विष्णु की प्रतिमा है। पिछली ओर के देवकोष्ठ में एक खंडित प्रतिमा है।

    गर्भगृह का द्वार-ललाट वक्रदंत गणेश की प्रतिमा से अलंकृत है। गर्भगृह में जलहरी सहित शिवलिंग प्रतिष्ठित है। अन्य प्रतिमाओं में उमा-महेश्वर दर्शनीय है। इसमें त्रिमुखी शिव के वाम अंक में उमा बैठी है। पिछला भाग आभा चक्र से मंडित है और माला लिए हुए गंधर्व दीखते हैं। नीचे दायें-बायें परिचर संयोजित हैं। एक अन्य प्रतिमा महिषासुरमर्दिनी की है। मंदिर के प्रांगण में मंदिर-वास्तु के अंग-प्रत्यंगों को उनकी खण्डित अवस्था में देखा जा सकता है।

12. **त्रिलोकनाथ मंदिर, लाहुल :** यह मंदिर लाहुल की पट्टन घाटी में चंद्रभागा नदी के बायें तट पर एक ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। वास्तु-शिल्प की दृष्टि से यह संरचना मूलतः हिन्दू मंदिर-स्थापत्य की शिखर शैली की बोधक है। मंदिर के गर्भगृह में संगमरमर की मानवाकार प्रतिमा प्रतिष्ठित है। त्रिलोकनाथ की यह मूर्ति एक मुख, षड्भुज तथा अर्द्धपद्मासन में है। बौद्ध इसे बोधिसत्त्व आर्य अवलोकितेश्वर का स्वरूप मानते हैं। मूर्ति के सिर पर एक लघु प्रतिमा संयोजित है, जो भगवान अमिताभ की प्रतीक मानी जाती है। यह मंदिर हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों के अनुयायिओं के लिए समान रूप से श्रद्धा-स्थल के रूप में अपना आकर्षण रखता है।

मंदिर वास्तु में अभिप्राय

भारतीय मंदिर वास्तु मानव संस्कृति और प्रकृति के दिव्य सम्बंध की शाश्वत चेतना, गहन अनुभूति और अंतर्बोध, सम्वेदना और चिंतन की अभिव्यंजना

का एक साकार रूप है।

भारतीय कला के सन्दर्भ में अलंकरण हेतु जिन आकृतियों अथवा चिह्नों का प्रयोग हुआ है, उनके लिए महाभारत के सभा पर्व में 'अभिप्राय' शब्द इसी अर्थ में आया है। संस्कृत में अभिप्राय और अंग्रेज़ी में डिज़ाइन का एक पर्यायवाची शब्द 'भक्ति' है। अतः मंदिर के अलंकरण की प्रक्रिया में भक्ति के अन्तर्गत वृषभ, ईहा मृग, व्याल, मकर, तुरग-नर, मृग, विहंग, शरज, कुंजर, वन-लता, पद्मलता आदि सभी का चित्रण संदर्शित है। भारतीय मंदिर वास्तुकला में इन अभिप्रायों की बहुलता पायी गयी है। मंदिर की बाह्य भित्तियाँ, द्वार-शाखाएँ, गवाक्ष आदि इन्हीं अभिप्रायों से सज्जित हैं। इन अलंकरणों के उत्कीर्णन से समूची संरचना अपने अंग-प्रत्यंगों सहित जीवंत हो उठी है। इन अभिप्रायों में पशु-पक्षियों की श्रेणी में गज, सिंह, शार्दूल (व्याघ्र), मयूर, मकर आदि जीव सम्मिलित हैं। व्याल और कीर्तिमुख दो ऐसे अभिप्राय हैं, जो सिंह के प्रतीक हैं। अष्ट मंगल की श्रेणी में सिंह, वृष, हस्ति, कलश, पंखा, वैजयंती, भेरी और दीपक जैसी शुभकारक वस्तुएँ रहती हैं।

प्रकृति से पर्वत, सूर्य, चन्द्र, जल आदि अभिप्रायों को उद्धृत किया गया है। पूर्णघट, अमृतघट, घट-पल्लव, पत्र-पुष्प, वृक्ष-वल्लरी आदि अभिप्रायों की अपनी शोभा है। इनमें भी सर्वाधिक लोकप्रिय पद्मदल का वृत्ताकार फलक है। अन्य अभिप्रायों में नवनिधि, कीर्तिमुख, स्वस्तिक, चक्र, त्रिरत्न आदि का आलेखन ध्यातव्य है। पशु-पक्षियों के अभिप्रायों में जाने कितने अपनी विशिष्टता के कारण कला के क्षेत्र में लोकप्रिय बने रहे, लेकिन व्याल (Lion art motif) और कीर्तिमुख (Lion head design) तो सर्वत्र उल्लेखनीय रहे हैं।

मंगल अभिप्रायों में जहाँ द्वार-पक्ष के निम्नतम भाग में दण्डधारी द्वारपालों की छवियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वहीं गंगा-यमुना की देवी-मूर्तियाँ अपने वाहन मकर और कूर्म सहित तोरणयुक्त प्रवेश-द्वार को भव्य गरिमा से मंडित करती प्रतीत होती हैं। प्रवेश-द्वार के सौन्दर्यीकरण में तोरण का बड़ा महत्त्व है। इस अलंकरण में अनेक अभिप्रायों का प्रयोग देखने में आया है और इन्हीं अभिप्रायों के नाम से इन तोरण-द्वारों की अलग-अलग पहचान बनी है। यथा—पत्र तोरण (त्रिपर्णी तोरण), चित्र तोरण, मकर तोरण, विद्याधर तोरण, गज तोरण आदि। इसी शृंखला में वीणाधारी एवं आकाशचारी गंधर्व, किन्नर एवं अप्सराओं से सुसज्जित तोरणयुक्त प्रवेश-द्वार के अलौकिक दृश्य से किसी भी आगंतुक के हृदय में श्रद्धा भावना का स्वाभाविक संचार होता है। अभिप्राय अलंकरण में पद्म अनेक रूपों में अंकित हुआ है, जैसे—चतुष्दल, अष्टदल, षोडशदल, शतदल के अतिरिक्त अर्द्धपद्म और निम्नाभिमुख कमल का प्रयोग भी देखने में आया है। निम्नाभिमुख का एक अन्य रूप घंटालंकरण या घंटिकालंरण भी है।

पैगोडा शैली

एशिया के अधिसंख्य देश, विशेषतः जहाँ प्राचीन और अर्वाचीन काल में बौद्ध धर्म का प्रचलन रहा है, वहाँ स्थापत्य के क्षेत्र में पैगोडा शैली का व्यापक परिचय मिलता है। ऐसे देशों में भारत और उसके उत्तर-पश्चिम में स्थित कंधार (अफ़गानिस्तान) से लेकर उत्तर-पूर्व में तिब्बत, नेपाल, भूटान, चीन, जापान और कोरिया तथा दक्षिण पूर्व में श्रीलंका, बर्मा (म्यांमार), थाईलैंड, सुदूर पूर्व में बाली द्वीप जैसे देश (वर्तमान अफ़गानिस्तान को छोड़कर) अभी भी पैगोडा शैली की ऐतिहासिक धरोहर को संजोए हुए हैं। भारतीय वाङ्मय में पैगोड़ा का पर्यायवाची शब्द 'स्तूप' है। श्रीलंका में इसके लिए Dagava शब्द का प्रयोग हुआ है। पैगोडा शब्द की व्युत्पत्ति इसी से हुई प्रतीत होती है। दक्षिण भारत के त्रिवांकुर व कोचीन में भी पैगोडा शैली की परिचायक भव्य संरचनाएँ देखने में आती हैं।

स्तूप का निर्माण मूलतः भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण पर उनकी पवित्र अस्थियों को संजोने हेतु हुआ। कालांतर में प्रतिष्ठित महान् पुरुषों के मरणोपरांत उनकी स्मृति में स्तूपों का निर्माण होने लगा। स्तूपों की रचना से पहले पूजा-स्थलियों को और फिर सार्वजनिक महत्त्व के भवन-निर्माण को भी प्रभावित किया। इस क्रमिक विकास में इस निर्माण ने पैगोड़ा शैली के नाम से लोकप्रियता अर्जित की और इसके अन्यतम भव्य स्वरूप देखने में आए। दक्षिण और पूर्व एशिया में धार्मिक स्थली के रूप में पैगोडा ने एक ऐसी बहुतलीय अट्टालिका अथवा मीनार (Tower) का आकार ग्रहण किया, जिसमें हर तल पर ऐसा आच्छादन है, जो दीवारों से बाहर की ओर निष्कासित रहता है। इस आच्छादन की एक अन्य विशेषता यह रही कि इसमें चारों कोने नासिका के समान ऊपर की ओर उठे हुए रहते हैं। पैगोडा शैली के मंदिर के धरातल पर चारों ओर श्रद्धालुओं के लिए परिक्रमा-पथ बना रहता है और ऊपर के तल भी बहिर्निःसृत बालकनी से शोभित रहते हैं।

हिमालय के अन्तर्गत विशाल पर्वत शृंखलाओं से निबद्ध सम्पूर्ण क्षेत्र, जिसमें नेपाल व भूटान के देश तथा सिक्किम (भारत) का क्षेत्र भी समाविष्ट है, इन में स्थापत्य की यह शैली किन्हीं स्थानीय विशेषताओं को आत्मसात् करते हुए प्रकट हुई है। पश्चिमी हिमालय के अन्तर्गत हिमाचल प्रदेश की वास्तु-परम्परा में भी निजी विशिष्टताओं सहित पैगोड़ा शैली का सशक्त परिचय मिलता है।

हिमाचल प्रदेश में पैगोडा शैली के अनेक साक्ष्य सही स्थिति में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, जिनमें इस शैली के हिन्दू और बौद्ध मंदिर अधिकांशतः मंडी और कुल्लू में अवस्थित हैं। ज़िला मंडी में अवस्थित मंदिर इस प्रकार हैं : पराशर देव मंदिर (पराशर), ब्रह्मा मंदिर (ढीरी), कामाक्षा और गौरीशंकर मंदिर (करसोग), बौद्ध मंदिर (रिवालसर), नवनिर्मित भीमाकाली मंदिर (मंडी)। ज़िला कुल्लू में पैगोड़ा

शैली की परिचायक संरचनाओं में हिडिम्बा देवी मंदिर (मनाली), त्रियुगी नारायण मंदिर (दियार), त्रिपुरा सुन्दरी मंदिर (नगर), आदिब्रह्मा मंदिर (खोखण) और मनु ऋषि मंदिर (शैंशर) परिगणित हैं। इनमें रिवालसर स्थित बौद्ध मंदिर पद्मसम्भव को समर्पित ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, यद्यपि वर्तमान संरचना विगत शती के आरंभिक काल का निर्माण है। सम्पूर्ण हिमालयी क्षेत्र में बौद्ध धर्म के अनुयायी बसते हैं, उनके लिए रिवालसर एक लोकप्रिय तीर्थस्थल है। इनमें सिक्किम और भूटान के श्रद्धालुओं के अतिरिक्त हिमाचल में बसे तिब्बती शरणार्थी भी प्रभूत संख्या में वर्ष पर्यंत दर्शनार्थ आते हैं।

मंडी से मात्र पचास कि.मी. की दूरी तथा 2660 मीटर की ऊँचाई पर एक सरोवर के तट पर ऋषि पराशर को समर्पित एक पैगोडा शैली का प्राचीन मंदिर है। इस त्रितला मंदिर का निर्माण राजा बाणसेन (1301-1346 ई.) ने करवाया था। लगभग सात सौ वर्ष प्राचीन पैगोडा शैली का यह मंदिर कुछ वर्ष पूर्व तक अपना आद्यस्वरूप बनाए रखने के लिए विख्यात रहा। विगत दो दशकों में मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ है। इस प्रक्रिया में इसके पैगोडा स्वरूप को बनाए रखने का सचेष्ट प्रयास प्रशंसनीय है।

पैगोडा शैली के उपरोक्त मंदिरों में संरचना की दृष्टि से हिडिम्बा देवी मंदिर की अपनी विशेषताएँ हैं। कुल्लू राज्य की कुल देवी को समर्पित इस मंदिर का निर्माण राजा बहादुर सिंह द्वारा सन् 1553 ई. में करवाया गया था। इस संरचना से पूर्व भी यहाँ इसी देवी का कोई देवालय रहा है, जिसका प्रमाण कुलदेवी के मोहरे से प्राप्त है, जिसे राजा उद्धरण पाल ने 1418 ई. में देवी को श्रद्धासहित भेंट किया था।

आयताकार का यह देवालय एक ऐसे चबूतरे पर स्थापित है, जो विभिन्न माप के कटे हुए पत्थरों से शुष्क चिनाई में निर्मित है। इस पूर्वाभिमुखी भवन का निर्माण काठकुणी शैली में हुआ है। दीवारों की चिनाई में कुछ-कुछ अंतर से काष्ठ धरणों का प्रयोग किया गया है। इस चिनाई में गारे का प्रयोग नहीं होता। हिडिम्बा मंदिर पहाड़ी पैगोडा शैली की एक ऐतिहासिक एवं अत्युत्तम रचना है।

पैगोडा शैली का आधार खण्ड सामान्यतः वर्गाकार रहता है और इसका निर्माण एक चबूतरे पर किया जाता है। इस प्रकार के देव मंदिरों में ग्राम देवता की मूर्ति धरातल खण्ड में ही स्थापित रहती है। इस खण्ड में चहूँ ओर के बरामदे का प्रयोग परिक्रमा पथ हेतु रहता है। आधार खण्ड के ऊपर जो दो, तीन अथवा अधिक तल संयोजित होते हैं, उनका आकार ऊपर की ओर उठते हुए क्रमशः संकुचित होता जाता है। इस प्रकार के निर्माण में अधिकांशतः एक या दो खण्ड ही प्रयोग हेतु बने होते हैं। अन्य खण्डों का निर्माण किसी उपयोग की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत् उनका

संयोजन समूचे भवन को एक ऐसा शिखरनुमा आकार और ऊँचाई (उठान) देता है, जिससे देवस्थान के रूप में उसकी एक स्पष्ट एवं कलात्मक पहचान बन पाए। इस आकृति में जन सामान्य के देवस्थानों का निर्माण उसी उद्भावना से प्रेरित है, जिससे भारत की तीन प्रमुख वास्तु शैलियाँ, यथा उत्तरी भारत की नागर शैली, दक्षिणी भारत की द्रविड़ शैली और विंध्य प्रदेश की वेंसर शैली अर्थात् पूर्वोक्त दो शैलियों का सम्मिश्रित रूप प्रेरित है। वास्तव में देवस्थानों को लम्बाई, चौड़ाई और विशेषतः ऊँचाई की दृष्टि से बड़े से बड़ा आकार प्राप्त हो, ऐसी लोकभावना सर्वत्र है, लेकिन यह सब स्थानीय साधनों पर निर्भर करता रहा है।

उपर्युक्त पहाड़ी शैली के निर्माण में एक विशिष्ट अलंकरण तत्त्व ध्यान आकर्षित करता है, वह है—सर्वोच्च खण्ड। सभी तलों में छत के चारों ओर बहिर्निःसृत भाग ('छज्जा' हिन्दी और 'छिपरुटी' पहाड़ी भाषा) में काष्ठ निर्मित गिल्लियों जैसी लटकनों की अवलि दर्शनीय है। यह लम्बक श्रेणी एक झालर या झल्लरी जैसा आकार लिए रहती है। जिस प्रकार हिन्दुओं के अनेक धार्मिक व लौकिक अनुष्ठानों में मंदिर, गृह, मण्डप, पूजा-स्थली आदि को पीपल अथवा आम की पत्रावलियों से सज्जित-शोभित किया जाता है, उसी परम्परा में ऊँचे पहाड़ों में निर्मित देव स्थानों के अलंकरण की प्रक्रिया में इन्हीं काष्ठ निर्मित, झूलती हुई शलाकाओं से उन बहिर्निःसृत छज्जों (हिन्दी में ओलती और भारतीय वास्तुकला की संस्कृतनिष्ठ शब्दावली में कपोतपाली) का स्वरूप अलंकृत हुआ है।

थोड़ा विस्तार में देखें तो भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत किसी विशेष अनुष्ठान, त्योहार या उत्सव में नव-वधू अथवा युवतियों और महिलाओं के विशिष्ट आभरणों में एक अतीव सुन्दर आभूषण मस्तक की शृंगार-पट्टी है। हिमाचल में लाहुल-स्पीति, किन्नौर आदि जनजातीय क्षेत्रों में भी इस शिरःसज्जा का एक अपना भव्य स्वरूप है। जिस प्रकार भारतीय संस्कृति में मंदिर-वास्तु की परिकल्पना मानव-शरीर की आकृति के अनुरूप हुई है, उसी प्रकार मंदिर के अंग-उपांगों को मानव देह के अवयवों में धारण किये जानेवाले आभूषणों की नाई सजाया-संवारा जाता रहा है। स्त्री-मस्तक की शृंगार-पट्टी को हिमाचल प्रदेश के काष्ठ-निर्मित मंदिरों की शिरःसज्जा में भी अपनी सौन्दर्यानुभूति के अनुकूल संयोजित किया गया है।

राजकीय भवनों, सार्वजनिक स्थानों, मंदिरों आदि के निर्माण में पैगोडा शैली के लक्षण स्पष्टतया परिलक्षित हैं। प्रमुखतः इस शैली ने हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्म-स्थलों के आकार को प्रभावित किया है। पैगोडा शैली का एक आलंकारिक लक्षण ढालू छतों का वक्राकार (अवतल) स्वरूप है। इस नतोदर आकार का निदर्शन मंडी नगर में राजा सूरज सेन (137-1664 ई.) द्वारा निर्मित 'दमदमा' नाम के

ऐतिहासिक महल और उसकी ऊँची मीनार जैसी शाखा, जो बाबाकोट मंदिर के नाम से ज्ञात है, में देखा जा सकता है।

सन् 1820 ई. में विलियम मूरक्राफ्ट अपनी यात्रा के दौरान मंडी नगर में ठहरे थे। अपने यात्रा विवरण में उन्होंने पैगोडा शैली का इस प्रकार उल्लेख किया है–'कुछ सप्ताह के ठहराव के पश्चात् हमने 11 जुलाई को मंडी से विदाई ली। इस नगर में कुछ दर्शनीय नहीं है, यद्यपि यह कुल्लू से तीन गुना विस्तार लिए हुए हैं। सबसे अधिक ध्यानाकर्षण की वस्तु राजा का महल है, जो नगर के दक्षिणी भाग में अवस्थित है और यहाँ अनेकशः ऐसे श्वेत भवन दृष्टि गोचर होते हैं, जिनकी नीली स्लेटों से आच्छादित छतें चीनी पैगोडा की भांति नतोदर आकार लिए हुए हैं।"

इसके अतिरिक्त यहीं निकट में सेरी पैवेलियन है। इस पैवेलियन का निर्माण राजा ईश्वरी सेन (1788-1826 ई.) द्वारा किया गया था, जिसका मूल स्वरूप पहाड़ी चित्रकला (मंडी उप-शैली) में अंकित है। इस चित्र का मुख्य विषय शिवरात्रि मेले का दृश्य है। इस दृश्यांकन की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त दमदमा राजमहल का चित्रण है। कालांतर में राजा विजय सेन (1851-1902) ने इस पैवेलियन का सम्वर्द्धन किया। राजा भवानी सेन (1903-1912) ने इसे नया स्वरूप दिया। राजा जोगेन्द्र सेन (1913-1948 ई.) ने सन् 1933 ई. में इस समूची संरचना का पुनर्निर्माण करवाया। सन् 1939 में सकन गार्डन (अतीत में 'सिद्धसर') के मध्य पैगोडा आकार में एक घंटाघर का निर्माण करवाया गया, जिसकी नतोदर छत चारों कोनों पर ऊपर उठी हुई नासिका की नाईं द्रष्टव्य है।

मंदिर स्थापत्य से निबद्ध पैगोडा शैली का एक प्रमुख साक्ष्य मंडी नगर से 20 कि.मी. की दूरी पर स्थित धर्म-त्रिवेणी रिवालसर में जलाशय के तट पर भिक्षु पद्मसम्भव (आठवीं शती का उत्तरार्द्ध) की स्मृति को उजागर करता हुआ सुविख्यात बौद्ध मंदिर है। यद्यपि इसकी वर्तमान संरचना बीसवीं शती के आरंभिक काल की है, लेकिन इसका स्वरूप बौद्ध पैगोडा शैली का द्योतक है, जिसकी एक प्रमुख विशेषता उपरोक्त नतोदर आकृति के आच्छादन के ऊपर उठे हुए कोने हैं।

गुम्बद शैली

यह एक कटु सत्य है कि मुगलकाल के दौरान किन्हीं इस्लामपरस्त शासकों द्वारा उत्तर भारतीय शिखर शैली की संरचनाओं को काफी हानि पहुँचाई गई। आज भी ऐसे स्थलों को देखा जा सकता है। ऐसी संरचनाओं में, जिन्हें भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने अपने संरक्षण में लिया है, वे प्रायः यथास्थिति में द्रष्टव्य हैं। वे प्राचीन कला के साक्ष्य अवश्य हैं, लेकिन इन संरचनाओं को उनका मूल स्वरूप प्रदान करने की दिशा में कोई विशेष प्रयास नहीं हुए हैं। मुगलकाल में जिन मंदिरों का नव-निर्माण हुआ, उनके आकार में उत्तरी भारत की शिखर शैली का प्रतिबिम्बन

बहुत कम मिलता है और उन्होंने किसी हद तक मस्जिदों की तर्ज़ पर गुम्बद शैली का अनुकरण भी किया है। इस संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि गुम्बद शैली भारत के मंदिर स्थापत्य के इतिहास में मस्जिदों की अपेक्षा बहुत पुरानी है। बौद्ध वास्तु-शैली में गुम्बदनुमा संरचना के प्राचीन साक्ष्य अभी भी दर्शनीय बने हुए हैं। हिमाचल प्रदेश के संदर्भ में गुम्बदों का प्रचलन उन भूतपूर्व रियासतों में तब हुआ, जब भारत के केन्द्र में इस्लामधर्मी शासक सत्ता में थे। हिमाचल के मंदिरों में गुम्बदों का निर्माण इस आशय से किया गया, ताकि उन्हें बाह्य आक्रांताओं से सुरक्षित रखा जा सके। गुम्बद शैली के मंदिरों की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार हैं–

1. ये देवल अधिकांशतः ऊँची चौकी या अधिष्ठान पर अवस्थित हैं।
2. चौकी कहीं-कहीं सादगी लिए हुए है। कहीं कोने पर पाये बने हुए हैं और कुछ ऐसे प्रतिदर्श (बानगियाँ) भी हैं, जहाँ अधिष्ठान न्यूनाधिक सज्जा-पट्टियों से अलंकृत हैं।
3. मुख्य संरचना को आविष्ट करते हुए मंदिर-परिसर में एक मोटी दीवार भी निर्मित रहती है।
4. चौकी अथवा अधिष्ठान पर बने इन देवलों में तल-विन्यास के अन्तर्गत दो घटकों का संयोजन रहता है : अर्धमण्डप और गर्भगृह।
5. देवल के दोनों खण्डों में अलग-अलग गुम्बद का छाजन द्रष्टव्य है। इस संयोजन में गर्भगृह पर बना गुंबद बड़े आकार में और अर्द्धमण्डप अथवा प्रवेश-द्वार का गुंबद छोटे आकार में अवस्थित रहता है।
6. अर्द्धमण्डप सामान्यतः तीन ओर (सम्मुख एवं दो पार्श्व) से खुला रहता है। प्रवेश-द्वार अलंकृत है और पार्श्वद्वार त्रिज्याकार महराब से युक्त हैं।
7. अर्द्धमण्डप का द्वार-मुख अलंकरण, पत्र-पुष्प और कहीं-कहीं दंडधारी द्वारपाल से शोभित रहता है। इस द्वार-सज्जा पर प्राचीन मंदिरों की नाईं गंगा और यमुना नदी देवियों की छवियाँ (वाहन-सहित) विरल हैं, लेकिन द्वार-मुख (प्रवेश-द्वार) के शीर्ष पर गणेश की सुघर प्रतिमा अवश्य देखने में आती है। किन्हीं द्वार-पट्टियों (शाखाओं) पर पत्र-पुष्प, चतुष्दल, अष्टदल आदि अभिप्रायों का उकेरन भी ध्यान आकर्षित करता है। यह अलंकरण शिखर शैली के मंदिरों के मुख-मण्डप (अर्द्धमण्डप) के गजमुख तोरण-द्वारों के अनुकरण पर हुआ है, लेकिन इनमें सुघरता का अभाव अखरता है।
8. दोनों गुम्बदों के मूल स्थान पर कल्पवल्ली या पत्रावली का अलंकरण है और शीर्ष पर उल्टे कमल की सजावट रहती है।
9. गर्भगृह की बाह्य भित्ति के पार्श्व व पिछले भाग में एक-एक मूर्तियुक्त आला रहता है और कतिपय देवलों में हर दीवार तीन मूर्तियुक्त कोष्ठों से

सज्जित है। प्रायः तीनों कोष्ठ एक-सा आकार लिए रहते हैं। लेकिन कहीं-कहीं मध्य कोष्ठ पार्श्व कोष्ठों से आकार में बड़ा देखा गया है। अपवाद की स्थिति में पिछली ओर दोनों पार्श्वों की भित्तियाँ कोष्ठविहीन हैं, लेकिन यह स्थिति विरल है।

10. देवल की परिक्रमा के लिए चौकी (अधिष्टान) के बाह्य भाग में यथेष्ट स्थान रहता है।
11. मंडी में स्थित प्रायः सभी शिवालयों (गुम्वदाकार देवलों समेत) के प्रांगण में नंदी की खड़ी मूर्ति गर्भगृह के द्वार के सम्मुख एक आयताकार चबूतरे पर अवस्थित है। ये प्रतिमाएँ लगभग एक जैसे आकार-प्रकार की हैं, लेकिन परिमाण एवं गढ़त में अन्तर दीख पड़ता है।
12. यद्यपि गुम्वद शैली के मंदिर पूर्वकाल में शिखराकार मंदिरों की तुलना में सीमित साधनों व सीमित स्तर पर ही बने हैं, लेकिन प्रस्तर निर्मित इन संरचनाओं का निर्माण भी इस प्रयोजन से हुआ है कि ये दीर्घ-जीवी सिद्ध हों।
13. गुम्वद शैली के सभी शिवालयों में मुख्य रूप से योनियुक्त शिवलिंग की प्रतिमा स्थापित रहती है।
14. शिखर शैली के मंदिर की नाईं गुम्वद शैली के मंदिर में भी शिवलिंग के अभिषेक जल की निकासी के लिए देवल के वाम पक्ष में परिक्रमा-पथ सिंहमुखी सोम सूत्र रहता है।
15. गुम्बद शैली के अधिसंख्य देवल पत्थर-निर्मित सुदृढ़ दीवार से परिवेष्टित हैं।
16. मंडी तथा कदाचित् अन्य स्थानों पर अवस्थित मंदिरों की नाईं गुम्बद शैली के लघुकाय देवलों के आस-पास भी देवतरु (पीपल) और जलकुंड अथवा बावड़ी (जलाशय) का निर्माण हुआ है, जिससे इन स्थलों की पवित्रता और एक समुचित वातावरण का आभास होता है।
17. गुम्बद शैली की कुछ संरचनाएँ परिक्रमा-पथ से आवेष्टित हैं। यह आवेष्टन कहीं-कहीं बारादरीनुमा होता है और त्रिज्याकार मेंहराब (radiating arch) से अलंकृत रहता है।

गुम्बद शैली की लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि शिखर शैली की नाईं इस शैली से भी दीर्घकाल तक सुरक्षित रहने का आश्वासन प्राप्त होता है और किन्हीं विपरीत स्थितियों यथा अतिवृष्टि अथवा भूचाल में भी इस प्रकार के आच्छादन को कोई क्षति नहीं पहुँच पाती। इस प्रकार की संरचनाओं में अधिकांशतः गर्भगृह और अर्द्धमण्डप (प्रवेश-द्वार) संयोजित रहते हैं और ये दोनों खण्ड अर्द्धवृत्ताकार आकृति के गुम्बद से आच्छादित रहते हैं, जिनमें गर्भगृह का गुम्बद अर्द्धमण्डप के गुम्वद से आकार में बड़ा रहता है। गुम्बद के मूलाधार और शीर्ष, दोनों में पद्मदल

का (अवली आकार में) अलंकरण रहता है। मुगलकालीन महल, मस्जिद, किला आदि के निर्माण में अलंकरणतत्त्वों में सर्वाधिक लोकप्रिय अभिप्राय पद्म का प्रयोग हुआ है, लेकिन जहाँ भारतीय मंदिर, राजभवन, दुर्ग अथवा अन्य संरचनाओं के आच्छादन (गुम्वद) में पद्म सज्जा (cyma-recta) का प्रफुल्लित आकार दर्शनीय रहा, वहाँ मुस्लिम वास्तु में यह आकार प्रतिपद्म सज्जा (cyma reversa) अर्थात् उलटे कमल के रूप में दर्शाया गया है। मुगल शासन काल अथवा उसके उपरान्त जिन गुम्बद शैली के मंदिर और गुरुद्वारों का निर्माण हुआ, उनमें अधिकांशतः प्रतिपद्म सज्जा का ही प्रचलन बढ़ा।

काठकुणी शैली

अनगढ़ पत्थर और काष्ठ की शुष्क चिनाई (काठकुणी) में निर्मित पहाड़ी शैली के देओ-देहरे (देव-मंदिर) के दो प्रमुख आकार प्रकट हुए हैं। एक आकार पहाड़ी शैली के गृह भवन जैसा है। इसमें धरातल को छोड़कर ऊपर की मंज़िल में चारों ओर स्तंभ एवं वेष्टन-वेदिका से युक्त, जो बालकनी है, उसका कुछ भाग आवरणयुक्त और कुछ आवरणमुक्त रहता है। यह बरामदा कहीं स्तंभों और छत की कड़ियों पर आधारित होता है और अन्यत्र ऐसी बालकनी का आकार दृष्टिगोचर होता है, जो बहिर्निःसृत रहती है। ऐसे देव-मंदिर और आवास-गृह सामान्यतः दो-तीन और कहीं-कहीं चार तलों में भी निर्मित हुए हैं।

अनेक देवगृहों में बालकनी सर्वोच्च तल में संयोजित है। इस तल में देवता के बहुमूल्य मोहरे, पूजा के लिए सज्जित रहते हैं। उससे निचली मंज़िल में देवरथ, सोने-चाँदी के छत्र और छड़ियाँ तथा देववस्त्र व आभूषण रखे जाते हैं, ताकि सुरक्षित रह सकें। देवता के वाद्ययंत्र मुख्य मंदिर के साथवाले भंडार-गृह में रखे जाते हैं। गृहनुमा इस प्रकार के मंदिर की ढलवाँ छत स्लेटों से आच्छादित तिकोना आकार लिए रहती है। अनेक संरचनाओं में इस आच्छादन की एक विशेषता पैगोडा शैली की नाईं उसका वक्ररेखीय स्वरूप है।

हिमाचल प्रदेश की प्रस्तर प्रतिमाएँ

सुरेंद्र मोहन सेठी

हिमाचल प्रदेश में प्रागैतिहासिक काल के अवशेष, गणराज्यों के सिक्के व पुरातन साहित्य प्रदेश की प्राचीनता की ओर इंगित करते हैं। परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि भारत की मुख्य कला धाराओं का आगमन यहाँ देरी से हुआ है। प्रदेश की धवल पर्वतमालाओं ने प्रहरी का कार्य किया है और यहाँ की सांस्कृतिक धरोहर को संजोकर रखा है। परन्तु भारतीय कला के आगमन में विलम्ब का कारण भी काफी हद तक ये पर्वत शृंखलाएँ ही बनी हैं।

मैदानी इलाकों के समीप होने के कारण, हिमाचल प्रदेश में कांगड़ा ही एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ महायान से सम्बंधित बुद्ध की प्रस्तर प्रतिमाएँ (छठी-सातवीं शताब्दी) प्रकाश में आई हैं। भले ही ये संख्या में गिनी-चुनी हैं। बौद्ध धर्म यहाँ से आगे सुदूर पर्वतों की ओर बढ़ने से रुक गया। आठवीं शताब्दी के मध्य में गुरु पद्मसंभव द्वारा चलाया गया मंत्रयान, तंत्रयान या वज्रयान से सम्बंधित बौद्ध धर्म हिमाचल प्रदेश के ऊपरी क्षेत्रों–विशेषतः लाहुल-स्पीति, लद्दाख एवं किन्नौर में लोकप्रिय हुआ। बौद्ध धर्म की इस शाखा में प्रस्तर प्रतिमाओं का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा था।

कांगड़ा क्षेत्र से बुद्ध की जो गिनी-चुनी प्रस्तर प्रतिमाएँ प्रकाश में आई हैं, वे सभी भूमि-स्पर्श मुद्रा में हैं। भूमि-स्पर्श मुद्रा बुद्ध की पहली मुद्रा है। शिल्पकार द्वारा मुद्रा को दिखलाने के लिए यह आवश्यक था कि संघाटी (वस्त्र) द्वारा उनका दायाँ कंधा (एका-निष्क) ढका हुआ न हो। इस प्रकार की दो शिरविहीन बुद्ध प्रतिमाएँ काँगड़ा के पठियार क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं, जो काँगड़ा और शिमला संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। हिमाचल प्रदेश में बौद्ध धर्म से सम्बंधित सबसे प्राचीन शिलालेख पहली-दूसरी शताब्दी में कांगड़ा से प्राप्त हुए हैं, जो ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में हैं। इसी शृंखला में हिमाचल प्रदेश की सीमा पर स्थित कालसी का शिलालेख है, जो

अशोककालीन है। हरमन गोएत्स ने कांगड़ा स्थित चैतड़ू (चैत्य) को अशोककालीन बताया है, परन्तु डॉ. प.के. मिश्रा (पुरातत्त्व विभाग) को वर्ष 1997 में क्रमबद्ध खुदाई करने पर स्तूप के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिला; जबकि इस 'भीम का टीला' के समीप ही एक अन्य स्तूप के होने के प्रमाण अवश्य मिले, जिन्हें तारकोल की सड़क दो भागों में विभक्त कर रही थी।

चैतड़ू के निकट ही द्रौपदी बाग है, जहाँ बुद्ध की एक अधूरी प्रतिमा विद्यमान है। स्थानीय लोग इसे द्रौपदी की प्रतिमा बताते हैं। सम्भवतः ऐसा भ्रम, मूर्ति के अधूरे होने के कारण हुआ होगा, जिससे संघाटी (वस्त्र) की सिलवटों को साड़ी समझ लिया गया। यह प्रतिमा सातवीं शताब्दी की है।

एक ब्रिटिश इंजीनियर को वर्ष 1904 में चैतड़ू के समीप एक बुद्ध मस्तक प्राप्त हुआ था, जो अब लाहौर संग्रहालय में है। ह्यूनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन में तमसा वन का उल्लेख किया है, जिसमें कई बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। एल.पी. पांडे इसे चैतड़ू के समीप बतलाते हैं। कांगड़ा के पूर्व की ओर स्थित चाड़ी गाँव में वज्रवाराही की पीठिका उपलब्ध है। इस पर सातवीं शताब्दी का लेख उकेरित है।

कलाविद् जसवन्त कुमार अपने शोधपत्र में दो शिरविहीन बुद्ध प्रतिमाएँ और कांगड़ा दुर्ग में एक अवलोकितेश्वर प्रतिमा का उल्लेख करते हैं। एलन (Elon) के अन्वेषण के दौरान कांगड़ा का मात्र एक सिक्का (दूसरी शताब्दी ई.पू.) प्रकाश में आया था, जिसमें एक ओर तो खरोष्ठी लिपि में 'त्रिकट जनपद' अंकित है और दूसरी ओर कई मंज़िलनुमा स्तूम दृष्टिगोचर होता है।

डॉ. फोगल को नूरपुर (कांगड़ा) के समीप फतेहपुर से ध्यानासन में बैठी हुई बुद्ध की प्रतिमा प्राप्त हुई, जो अब लाहौर म्यूज़ियम में है। कलाविद् इसे फतेहपुर बुद्ध के नाम से सम्बोधित करते हैं। प्रतिमा की पीठिका पर लेख उकेरित है। गांधार शैली की इस प्रतिमा में गुप्तकालीन प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कई कलाविद् इसे स्थानीय यानी इस जगह की नहीं मानते; क्योंकि डॉ. फोगल को यह फतेहपुर की धर्मशाला में मिली थी। परन्तु चाँदी से मढ़ी हुई आँखें व पीठिका पर बिछाया हुआ कवर इसके पश्चिम हिमालय में निर्मित होने के प्रमाण है।

यहाँ पर पाठकों का ध्यान कुल्लू के एक प्राचीन ताम्बे के लोटे की तरफ दिलाना श्रेयस्कर होगा, जो दूसरी शताब्दी का है और अब ब्रिटिश म्यूज़ियम में है। इस पर सिद्धार्थ की शोभा-यात्रा का दृश्य अंकित है। रथ के आगे दो युवतियाँ नृत्य, गायन और बाँसुरी आदि बजाती हुई, आगे बढ़ रही हैं और इनके पीछे चल रहे दो घुड़सवार बरबस ही ध्यान आकर्षित करते हैं। घोड़े के रेखांकन में रकाब को भी दर्शाया गया है और घोड़े पर बैठकर पैर फँसाने के लिए रस्सियों (stirup) का उपयोग हुआ है।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का उल्लेख करना आवश्यक होगा। अभी हाल ही में चम्बा के भरमौर क्षेत्र से 9वीं शताब्दी की बोधिसत्व की अष्टधातु निर्मित कांस्य प्रतिमा प्रकाश में आई है। उत्तर गुप्त शैली में निर्मित इस प्रतिमा में गांधार और काश्मीर शैली का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। यह मूर्ति छतराड़ी मंदिर के गर्भगृह के भीतर एकमुख लिंगेश्वर की भांति गांधार शैली का मुकुट, गले में एकावली और बाजूबंद धारण किए हुए है। पेट की मांसलता पर काश्मीरी प्रभाव स्पष्ट है। भरमौर और छतराड़ी की प्रतिमाओं से यह आगे की कड़ी है, इसलिए भी यह महत्त्वपूर्ण है।

कनिंघम द्वारा भरमौर की कांस्य प्रतिमाओं को 1839 ई. में प्रकाश में लाए जाने के पश्चात् इस क्षेत्र से कोई पुरावशेष उपलब्ध नहीं हुआ था। भरमौर से हमें सातवीं-आठवीं शताब्दी के कुछ बौद्ध शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं, जो किरा जाति के भरमौर पर आक्रमण से सम्बंधित हैं। इस आक्रमण ने भरमौर की हिन्दू संस्कृति को तहस-नहस कर दिया था। कांस्य प्रतिमाओं को भी क्षति पहुँचाई थी। इस आक्रमण से उबरने के लिए भरमौर को लगभग 100 वर्ष का समय लगा था। बोधिसत्व की कांस्य प्रतिमा इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से ताल्लुक रखती प्रतीत होती है।

यहाँ काँगड़ा की कुछ जैन प्रतिभाओं का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा, क्योंकि हिमाचल में यही एक क्षेत्र है, जहाँ से कुछ जैन प्रतिमाएँ प्रकाश में आई हैं। ये प्रतिमाएँ 14वीं-15वीं शताब्दी की हैं। जहाँ बुद्ध प्रतिमाएँ शहर से दूर एकांत वन स्थलों और प्राकृतिक परिवेश से प्राप्त हुई हैं, वहीं जैन प्रतिमाएँ पुराने कांगड़ा बाज़ार और घनी आबादी वाले क्षेत्रों से मिली हुई हैं। एक समय काँगड़ा क्षेत्र में जैन व्यापारियों का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि उन्होंने काँगड़ा दुर्ग के ठीक बीचों-बीच ऋषभ नाथ की प्रतिमा स्थापित कर ली थी और कटोच शासकों की कुलदेवी अम्बिका जैनियों की शासन देवी मानी जाने लगी।

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग के अभिलेखागार के लिए धर्मशाला से स्थानांतरित की गई फाइलों के अध्ययन से पता चलता है कि अम्बिका देवी की कांस्य प्रतिमा दुर्ग से चोरी हो गई थी, जिसके विरोध में कांगड़ा बाज़ार में हड़ताल रखी गई थी। चोरी करने वालों ने आदि नाथ की प्रतिमा को भी क्षति पहुँचाई थी। फाइल के अनुसार देवी की प्रतिमा का वज़न 4 या 5 सेर था और यह चोरी 20 मई, 1932 को हुई थी। इन्हीं फाइलों के अनुसार काँगड़ा दुर्ग में पाँच प्राचीन मंदिर थे। 1866 ई. में दो ध्वस्त हो गए। ये पाँच मंदिर–अम्बिका, सीतला, कालिका, भैरों और चामुंडा के थे। इन्हीं फाइलों के अध्ययन से पता चलता है कि ऋषभ नाथ की पीठिका पर उकेरे 'लांछन' ऋषभ व ऋषभ नाथ के जटाजूट होने के कारण हिन्दू इसे भैरों की प्रतिमा मान कर पूजते थे, जिसके विरोध में जैनियों ने

अदालत में केस दायर किया और कुछ वर्ष पश्चात् फैसला उनके पक्ष में हुआ।

जैनियों के प्राचीन साहित्य विनतियों, पट्टावलियों (14वीं-18वीं शताब्दी) में कांगड़ा को पवित्र तीर्थ स्नान माना गया है, जिसके दर्शन के लिए यहाँ अनेक जैन संत, मुनि व श्रावक संघ आते रहे। उन्होंने काँगड़ा यात्रा का वर्णन अपने ग्रन्थ *'नगर कोट तीर्थ विनती'* में किया है।

वैजनाथ मंदिर का निर्माण करनेवाले दो जैन बंधुओं ने अपने एक अभिलेख में महावीर मंदिर के निर्माण का उल्लेख भी किया है। यद्यपि अब ऐसा कोई मंदिर काँगड़ा और वैजनाथ में दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु यत्र-तत्र बिखरी हुई जैन प्रतिमाएँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। कलाविद् अश्वनी अग्रवाल ने इन जैन प्रतिमाओं के पुरावशेषों का उल्लेख किया है। वैजनाथ से प्राप्त इन जैन प्रतिमाओं की संख्या लगभग सात है।

सारांश में काँगड़ा की जैन प्रतिमाएँ 14वीं-15वीं शताब्दी की हैं। इनका निर्माण जैन व्यापारियों द्वारा करवाया गया, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे और गुजरात से व्यापार के सिलसिले में इन पहाड़ों में आए थे। अभिलेखों के आधार पर इनका गोत्र, ब्रह्म कद था। कांगड़ा क्षेत्र से प्राप्त जैन प्रतिमाएँ पद्मासन में हैं।

हिमाचल प्रदेश में हिन्दू कला से सम्बंधित, पाँचवीं शताब्दी पूर्व की प्रस्तर प्रतिमाओं की संख्या नगण्य ही है। हरमन गोएत्स बहुलता में मिलनेवाले पहाड़ी शैली के मंदिरों को गुप्तकालीन मंदिरों (पाँचवीं शताब्दी) का प्रतिरूप मानते हैं। इन पहाड़ी मंदिरों का ग्राउंड-प्लान (तलछन्द) वर्गाकार होता है, चारों ओर निर्मित प्रदक्षिणा पथ और ऊपर स्लेट की ढलवाँ छत रहती है। यद्यपि यह गुप्तकालीन–अहीओल, बादामी और नाचनाकुठारा के मंदिरों का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु काष्ठ निर्मित होने के कारण इनका बाहरी ढाँचा 16वीं-18वीं शताब्दी का है। प्रायः ये मंदिर देवी, नाग और हिडिम्बा को समर्पित हैं।

मदनजीत सिंह ने अपनी पुस्तक *हिमालयन आर्ट* में गुम क्षेत्र (चम्बा) से उपलब्ध शिव प्रतिमा का उल्लेख किया है, जिसे वह पाँचवीं शताब्दी का मानता है। (पृष्ठ संख्या 120)। प्रतिमा ऋषभ वाहन शिव की है, जिसमें शूलपाणि शिव पार्वती के साथ खड़े हैं। पृष्ठ भाग में नंदी है। परन्तु इस प्रतिमा की जानकारी संदिग्ध है। डॉ. ओहरी ने अपनी पुस्तक *Sculptures of western Himalaya* में अवश्य उपरोक्त प्रतिमा का विवेचन किया है। (पृष्ठ-101)

छठी शताब्दी के अंतर्गत हिमाचल प्रदेश का एकमात्र, परन्तु पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानगढ़ का शिव मंदिर है, जो सिरमौर जिला में स्थित है। यह मंदिर उत्तर गुप्तकालीन है, जब नागर शैली का मंदिर पूर्णरूप से विकसित नहीं हुआ था। अतः यह मंदिर महत्त्वपूर्ण है। यह गुप्त कालीन और नागर शैली के मंदिरों के

बीच की कड़ी है और समस्त भारत में इस प्रकार के मंदिरों की संख्या कम है। इस मंदिर की तुलना झाँसी में देवगढ़ के दशावतार मंदिर से की जा सकती है।

छठी शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण और प्राचीन शिव प्रतिमा कुल्लू के बजौरा क्षेत्र से प्राप्त हुई है। शिव प्रतिमा में शूलपाणि शिव एकाकी और द्विभुजी है। द्विभुजी शिव की प्रतिमाएँ भारत में विरल ही हैं। यह प्रतिमा कुषाणकालीन सिक्कों का प्रकटीकरण है। शिव के एक हाथ में त्रिशूल है व दूसरा हाथ कटिहस्त अथवा बीजपूरक धारण किए है और पृष्ठ भाग में नंदी है। यह प्रतिमा गुप्तकालीन प्रतिमाओं की भांति सामभंग मुद्रा में सीधी खड़ी है। शिर के पृष्ठ भाग में अलंकरण रहित प्रभामंडल है। शिव की द्विभुजी प्रतिमाएँ भारत में सबसे प्राचीन हैं।

परवाणु से छठी शताब्दी की तीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो राज्य संग्रहालय, शिमला में सुरक्षित हैं। ये प्रतिमाएँ नंदी, घटपरनाला और शिवलिंग की हैं। घटपरनाला में शिव का गण चक्रकुंडल व गले में एकावली धारण किए हुए, अपने दोनों हाथों में घट (घड़ा) को पकड़े हुए है, जो पानी के निकास के लिए था। शिव मंदिर में गर्भगृह से पानी के निकास के लिए स्थापित किया गया परनाला भक्त की परिक्रमा को भी नियंत्रित करता है। स्थापत्य की दृष्टि से गर्भगृह के अधिष्ठान का भी पता चलता है, जहाँ पानी बाहर की ओर आ रहा हो।

हिमाचल के नागर मंदिरों में मकर परनाले का ही प्रावधान रहा है, जिसकी दिशा शास्त्रीय विधान के अनुसार उत्तर की ओर होनी चाहिए। इस प्रकार का परनाला कांगड़ा दुर्ग के बाहर एक पनिहार में देखा गया है, जो अभी तक स्थापित है। यह परनाला सम्भवतः 10वीं-11वीं शताब्दी का है। एक अन्य घट-परनाला कुल्लू से प्राप्त हुआ है, जो चंडीगढ़ म्यूज़ियम में है। इसमें मानवीय आकृति घड़े को पकड़े हुए है। पानी के निकास के लिए घड़े में एक छेद है। आनंद कुमार स्वामी इसे गंगा की आकृति मानते हैं। यह प्रतिमा भी लगभग 10वीं-11वीं शताब्दी की है।

राज्य संग्रहालय, शिमला में ही निरमंड कुल्लू से प्राप्त भगवान विष्णु की सामपद, सामभंग और स्थानक चतुर्भुजी प्रतिमा विद्यमान है, जो छठी शताब्दी की है। प्रतिमा एकाकी है और इसका वृहदाकार (महाप्रमाण) निरमंड के किसी मंदिर के मूलनायक के रूप में विद्यमान होने की ओर इंगित करता है। इस प्रतिमा की विशेषता है कि इसमें विष्णु ने सुदर्शन चक्र को रथ के पहिये की तरह पकड़ा हुआ है। इसी प्रकार का रथांग शक्ति देवी मंदिर छतराड़ी (चम्बा) की काष्ठ द्वार शाखा पर भी विष्णु ने धारण किया हुआ है।

बजौरा (कुल्लू) से प्राप्त बौद्ध धर्म से सम्बंधित हारिती की प्रतिमा का उल्लेख हरमन गोएत्स ने किया है, जिसकी जानकारी संदिग्ध है। सर्वे के दौरान इस प्रतिमा का पता नहीं चलाया जा सका।

भरमौर और चम्बा के मध्यवर्ती क्षेत्र गुम से दो सूर्य प्रतिमाएँ (छटी शताब्दी) उपलब्ध हैं, जिनमें से एक सूर्य प्रतिमा भूरि सिंह संग्रहालय में सुरक्षित है व दूसरी गुम पर्वत की ऊँचाइयों में मौजूद है। निर्माण कौशल व शैली के आधार पर यह प्रतिमा गुप्तकालीन है। परन्तु सूर्यदेव की धारीदार दाढ़ी, कंधों तक लहराते बाल, मूंछें, उदीच्यवेश, कसा हुआ कमरबंद, इनके ईरानी मूलक होने का सूचक है। उत्कीट आसन में उनका दोनों पैरों पर बैठने का ढंग प्रभावशाली शासक के रूप में कुशाणकालीन है। सूर्य चूटधारी है, परन्तु शिल्पकार ने बड़ी कुशलता से इन्हें रथ के पीछे छुपा लिया है। रथ का एक पहिया (एकचक्र) उनके सदागति होने का प्रतीक है। रथ पर उनका परिवार व परिचर देखे जा सकते हैं। ये दोनों सूर्य प्रतिमाएँ लगभग एक जैसी ही हैं।

उत्तर गुप्तकालीन प्रतिमाओं का स्वरूप हर्षवर्धन के समय, सातवीं शताब्दी का विशेष महत्त्व रखता है। इस शताब्दी में कई महत्त्वपूर्ण प्रस्तर व कांस्य प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। इस संदर्भ में कांगड़ा के दर्शनी दरवाजा की गंगा और यमुना की आकृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। इनका विशालकाय आकार (140 सेमी ऊँचाई) इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि कांगड़ा का यह मंदिर अवश्य ही भव्य और विशाल रहा होगा, जिसके प्रवेश-द्वार पर इनको स्थापित किया गया था। शास्त्रीय विधान में गंगा और यमुना की आकृतियों को प्रवेश-द्वार के दोनों ओर बनाने का प्रावधान है। इन्हें मानस तीर्थ की संज्ञा दी गई है जिनको देखने मात्र से ही भक्त की मानसिक शुद्धि हो जाती है। प्रतिमाओं की त्रिभंग मुद्रा नदी के तीव्र वेग को इंगित करती है।

इसके अतिरिक्त व्रजेश्वरी मंदिर में रखी गई शिव-पार्वती की प्रतिमाओं को हरमन गोएत्स सातवीं शताब्दी का मानता है। इस शताब्दी में गंजा (कुल्लू) के सूर्य परिवार की काष्ठ प्रतिमाएँ, मनाली गढ़ के प्रांगण में बिखरे हुए मंदिर के कुछ अवशेष, जिन पर काश्मीरी प्रभाव है, विष्णु मंदिर सुल्तानपुर और जाहरपुर का शिव मंदिर (कुल्लू) सम्मिलत हैं।

सातवीं शताब्दी के ही अंतर्गत डोहगी (ऊना) की महिषासुर मर्दिनी प्रतिमा को देखा जा सकता है, जो राज्य संग्रहालय, शिमला में सुरक्षित है। प्रत्यालीढ़ आसन में स्थित महिषासुर मर्दिनी को मही नामक राक्षस का वध करते हुए दिखलाया गया है। प्रतिमा चर्तुभुजी है। देवी ने बायें कर से महिष को दुम से पकड़ कर उठा रखा है और दायें कर में धारण किए त्रिशूल से उसके शिर को वेध दिया है। इस प्रहार से महिष के शिथिल और निर्जीव पड़े शिर को देवी ने अपने पैरों तले दबा दिया है। देवी के अन्य हाथों में खड़ग और ढाल है। चतुर्भुजी प्रतिमाओं में देवी का वाहन सिंह प्रायः नहीं होता, यदि हो तो वह आक्रमण में भाग नहीं लेता। महिष भी अपने

मूल रूप में रहता है। चतुर्भुजी प्रतिमाओं में प्रायः खड्ग, त्रिशूल और घंटी रहती है। प्रस्तुत प्रतिमा में घंटी के स्थान पर ढाल का प्रयोग हुआ है।

सातवीं शताब्दी की एक 'चक्र-पुरुष' की प्रतिमा राज्य संग्रहालय, शिमला में सुरक्षित है, जो बजौरा-कुल्लू से प्राप्त हुई है। प्रस्तुत चक्र-पुरुष विष्णु के आयुध चक्र का मानवीकरण है और यहाँ वह स्वतंत्र रूप से प्रकट होते हैं। अर्थात् विष्णु के हाथ में धारण नहीं है। सम्भवतः इन्हें एक ऊँचे स्तम्भ के ऊपर विष्णु मंदिर के प्रांगण में लगाया गया था। कवि कालिदास ने रघुवंश में चक्र-पुरुष को बौने आकार का माना है, जैसा कि हम इस प्रतिमा में देखते हैं। कवि ने इन्हें अस्त्रदेव की संज्ञा दी है। शिल्प विज्ञान में उन्हें न तो पुलिंग की श्रेणी में रखा गया है और न ही स्त्रीलिंग में। उन्हें ब्रह्मचारी माना गया है। प्रस्तुत प्रतिमा के पीछे चक्र के रूप में एक बड़ा प्रभामंडल है, जिसके आगे चक्र-पुरुष अंजलिबद्ध मुद्रा में खड़े हैं। आठवीं शताब्दी के साथ गुप्तकाल का अंतिम दौर आरम्भ होता है। परन्तु गुप्तकाल के मानदंड किंचित् परिवर्तन के साथ चलते रहे हैं।

हिमाचल प्रदेश में मूर्तिकला व वास्तु कला की दृष्टि से 8वीं-10वीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण रही है, क्योंकि इस समय हिमाचल प्रदेश के प्रमुख मंदिरों का निर्माण हुआ और मूर्तिकला में नए आयाम जोड़े गए। मरकुला देवी, त्रिलोकनाथ, मसरूर, बजौरा, बैजनाथ, रंगनाथ शणमुखेश्वर, संध्यादेवी, जगत्सुख और तत्पश्चात दसवीं शताब्दी के लक्ष्मी नारायण मंदिर समूह, कांगड़ा दुर्ग, देवालय भवन आदि में स्थापित प्रस्तर प्रतिमाएँ प्रमुख हैं.

पब्बर घाटी और सिरमौर

हिमाचल प्रदेश के पूर्वी छोर पर सिरमौर और पब्बर घाटी प्रतिहार युगीन प्रस्तर कला का हृदयस्थल है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह क्षेत्र गंगा और यमुना की दिशाओं से आनेवाली उत्तरी भारत की कला धाराओं को आत्मसात् करता रहा है, जिसका साक्ष्य इस क्षेत्र में यत्र-तत्र बिखरी हुई मूर्तिकला और वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूनों से होता है। कालांतर में प्रतिहार सामंत भट द्वारा हाटकोटी में प्रतिबिंबित दुर्गा महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा (10वीं शताब्दी) हिमाचल प्रदेश में विद्यमान गिनी चुनी कांस्य प्रतिमाओं में से एक है।

दुर्गा के दो स्वरूप मानते हैं। हिमाचल प्रदेश में भी दुर्गा के दो स्वरूप पाए जाते हैं—महिषासुर मर्दिनी दुर्गा और शांत दुर्गा। पब्बर घाटी से ही दुर्गा के शांतरूप की एक अद्वितीय प्रतिमा हासिल हुई हैं जो राज्य संग्रहालय शिमला में प्रदर्शित है और संगृहीत प्रतिमाओं में उल्लेखनीय है। ध्यातव्य है कि महिषासुर मर्दिनी बहुर्भुजी है और हिमाचल प्रदेश में चार हाथों से 32 हाथों तक (छतराड़ी भित्ती चित्र) भी उपलब्ध है और असुर का वध कर रही है, वहीं शांत दुर्गा केवल

द्विभुजी अथवा चार भुजी है। यद्यपि आयुधों से लैस है, परन्तु सौम्यवदना है। सिंह पर आसीन है, परन्तु सिंह आक्रामक नहीं है। प्रतिमा विज्ञान में सिंह की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं–शांत, जाग्रत, उद्धृत और त्रासित। उपरोक्त संदर्भ में सिंह की शांत मुद्रा उपयुक्त है।

दुर्गा मंदिर से ही नृत्य में मग्न त्रिरथ पीठिका पर नृत्यरत गणेश के दर्शन होते हैं। उनका बायां पाँव ब्रह्म स्थान पर है तो दायाँ पाँव नृत्य मुद्रा में धरती से (भुजंग त्रासत अवस्था में) ऊपर उठा हुआ है। शास्त्रीय विधान के अनुकूल उनकी सूँड बायीं ओर मुड़ी हुई है और नृत्य करते हुए भी मोदक पात्रवाला हाथ सूँड के समीप ले आए हैं। नृत्य मग्न होने के कारण उनके हाथ भी नृत्यमुद्रा में होने स्वाभाविक हैं। यद्यपि आयुधों से लैस हैं। गणेश के दोनों ओर दो लघु आकृतियाँ हैं। बायीं ओर का वादक घड़े पर ताल दे रहा है तो दूसरी ओर नारी आकृति सम्भवतः शंख पकड़े हुए है। नदी के दूसरे छोर पर शिव का नागर मंदिर है, जिसके शुकनास के शीर्ष भाग पर शिव नटराज (10वीं शताब्दी) की प्रतिमा उल्लेखनीय है, क्योंकि हिमाचल प्रदेश में शिव नटराज के दर्शन दुर्लभ हैं।

हाटकोटी से ही उपलब्ध राज्य संग्रहालय शिमला में छठी शताब्दी का दैत्याकार मैडिलयन 'भद्रमुख' प्रदर्शित है, जिस में निर्मित त्रिशिर, शिव के तीन रूपों का बोध कराते हैं यथा; तत्पुरुष महादेव, उमा वामदेव और अघोर भैरव।

समीपवर्ती सिरमौर क्षेत्र का मानगढ़ मंदिर (छठी शताब्दी) महत्त्वपूर्ण है, जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उल्लेखनीय है कि भारत में इस प्रकार की आयताकार ग्रॉउंड-प्लान वाले केवल पचास मंदिर हैं, जिन्हें बल्लभी छन्द अथवा हस्ती पृष्ठ की संज्ञा दी गई है। हिन्दू वास्तुशास्त्र में वर्ग को ही प्रधानता दी गई है, क्योंकि वर्ग विश्वकर्मा का आभूषण है, नागर शैली के मंदिरों के लिए वर्गाकार ग्रॉउंड-प्लान आवश्यक है, तभी इनकी चार दीवारों को एक साथ चरम बिन्दु पर पहुँचाया जा सकता है, जहाँ फिर आमलक को बैठाया जाता है।

कुल्लू का संध्या देवी मंदिर भी आयताकार ग्रॉउंड-प्लान पर आधारित है। सिरमौर क्षेत्र से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिहार युगीन प्रतिमाएँ व भग्नावशेष (मुख्यतः तोरण के अंश) भी प्राप्त हुए हैं, जो भूरि सिंह संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें सिरमौर से प्राप्त सूर्य की प्रतिमा उल्लेखनीय है, जो उदित्यवेश में सामपद, सामभंग और स्नानक मुद्रा में अपने परिवार और परिचरों सहित प्रदर्शित है और दोनों करों में स्कन्ध देश तक पहुँचते हुए दो सनाल कमल धारण किए हुए हैं। राज्य संग्रहालय, शिमला में सिरमौर से प्राप्त शार्दूल की प्रतिमा भी उल्लेखनीय है, जो अपने ऊपर बैठे हुए सवार को गिराने की चेष्टा में है। सिंह रूपी शार्दूल पाशविक प्रवित्तियों का प्रतीक है। यह प्रतिमा लगभग दसवीं शताब्दी की है।

उत्तर भारत में मंदिरों और मूर्तियों को अतीत के अनेक आक्रमणों में नष्ट किया जाता रहा, क्योंकि मध्य एशिया की ओर से इस क्षेत्र पर क्रमबद्ध आक्रमण होते रहे। लेकिन हिमाचल भूमि के दूर-दराज क्षेत्रों जैसे, भरमौर, छतराड़ी (चम्बा) तथा हाटकोटी (शिमला) आदि स्थानों में कुछ ऐसी कांस्य मूर्तियाँ संरक्षित रह सकीं, जो मूर्तिकला की दृष्टि से वैश्विक महत्त्व की मानी गई हैं।

उत्तर-पश्चिम हिमालय क्षेत्र के भरमौर (प्राचीन ब्रह्मपुर) के काष्ठ निर्मित मंदिर में स्थापित लक्षणादेवी की आदमकद प्रतिमा तथा उसी क्षेत्र के छतराड़ी गाँव के मंदिर में शक्तिदेवी की प्रतिमा मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इन मूर्तियों को प्रख्यात मूर्तिकार गूगा द्वारा 7वीं शताब्दी में ढाला गया था। तत्कालीन कलाप्रिय राजा मेरू वर्मन ने इन मंदिरों व मूर्तियों का निर्माण करवाया था। इन मूर्तियों को भरमौर की मूर्तिकला के अंतिम उदाहरण के रूप में भी माना गया। लेकिन कुछ वर्ष पूर्व भरमौर में मिली बोधिसत्व की प्रतिमा इस कला के 9वीं शताब्दी तक जीवित रहने का प्रमाण है। इससे स्पष्ट होता है कि गूगा के बाद भी लम्बे समय तक भरमौर इस महान कला का केन्द्र बना रहा।

भरमौर की लक्षणादेवी प्रतिमा को भारतीय मूर्तिकला का एक अद्वितीय उदाहरण माना जाता है। हरमन गोएत्स ने इन लक्षणों की कला को भिलसा के निकट उदायगिरि की गुफाओं तथा भूमरा के गुप्तकालीन मंदिरों में खोज निकाला है। अनेक कला समीक्षकों ने इस प्रतिमा की समीक्षा भारतीय मूर्ति कला के ऐतिहासिक संदर्भों में की है और इस विलक्षण प्रतिमा की अनेक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

भरमौर के चौरासी परिसर में मणिमहेश मंदिर के समक्ष स्थापित नंदी की आदमकद कांस्य प्रतिमा धातुकला का एक अद्भुत नमूना है। इस प्रतिमा की पीठिका में शारदा लिपि में 7वीं शती का आलेख अंकित है। इसी परिसर के नृसिंह मंदिर में भरमौर की अन्य प्रमुख प्रतिमाओं की तरह नृसिंह की धातु मूर्ति भी एकाकी स्थापित है। नृसिंह का उग्ररूप रक्ताभ तने नयन, तीक्ष्ण दंत, उलझे केश तथा क्रोध में धनुष के समान तरेरी भृकुटियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। भरमौर के इसी परिसर में गणेश की प्रतिमा भी भद्रपीठ पर प्रतिष्ठित है। इस पीठ के निचले भाग में विपरीतमुखी दो शेर तथा मध्य में बड़े कानवाला गण उकेरे गए हैं। इस प्रतिमा की टाँगें नष्ट हुई हैं। संभवतः 8वीं शताब्दी में कीरों के आक्रमण के दौरान यह क्षति हुई होगी।

छतराड़ी में शक्तिदेवी की 7वीं शताब्दी में निर्मित चतुर्भुजी मूर्ति एक ऐसी दुर्लभ पीतल प्रतिमा है, जिसे भारतीय सौंदर्य शास्त्र के प्राचीन आदर्शों के अनुरूप ढाला गया है। कलाविद् फिलिप रायसन ने इस मूर्ति को भारतीय कला-सौंदर्य के

मानकों के उदाहरण स्वरूप लेते हुए लिखा है कि नारी का मुखमंडल गोलाकार न होकर पूर्ण चंद्रमा के समान चौड़ा होना चाहिए, जैसा छतराड़ी की शक्ति देवी प्रतिमा का है। प्राचीन ग्रंथों के अनुसार स्त्री-सौंदर्य के प्रतिमानों में आँखें मछली की तरह, ओंठ तिल के पुष्प समान, आर्य नाक, तोते की चोंच जैसा भौएँ तने हुए धनुष की तरह, वक्ष गोलाकार, भुजाएँ गो-पुच्छवत तथा टाँगें हाथी की सूँड की तरह होनी चाहिए। गूगा ने इस प्रतिमा की रचना इन सभी लक्षणों को उतारते हुए की है। इसी कारण यह प्रतिमा कला की पराकाष्ठा का जीवंत उदारहण है। इसी मंदिर से प्राप्त एक अन्य विलक्षण कलात्मक मूर्ति भूरि सिंह संग्रहालय में संरक्षित है, हाथ में दीपक लिए भक्त की प्रतिमा लक्षणादेवी व शक्तिदेवी की प्रतिमाओं से भिन्न 6ठी शताब्दी की मूर्ति है। यह प्रतिमा गुप्तकाल की मूर्तिकला के अंतिम पड़ाव को दर्शाती है। महला के हिडिम्बादेवी मंदिर में स्थापित 16वीं शताब्दी की दुर्गा की पीतल में निर्मित प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। डॉ. वी.सी. ओहरी के अनुसार महला के जालपा मंदिर में स्थापित 17वीं शताब्दी की दुर्गा की मूर्ति प्रतिमा विज्ञान के मानकों की दृष्टि से चम्बा की अन्य दुर्गा प्रतिमाओं से भिन्न है। यह प्रतिमा कुषाण और गुप्तकालीन मूर्तिकला से सम्बंधित है। यहाँ इसे 17वीं शताब्दी में बंगाल से आए ब्राह्मणों ने स्थापित किया होगा।

यद्यपि चम्बा को शिवभूमि कहा गया है, परन्तु चम्बा में शिव का एकमात्र मंदिर है, जो लक्ष्मीनारायण मंदिर समूह में स्थित है और युगाकार वर्मन के समय (11वीं शती) का है। इस मंदिर में स्थापित मूर्ति में शिव और पार्वती को आलिंगनबद्ध मुद्रा में दर्शाया गया है। इसमें शिव के चार सिर तथा चार हाथ हैं। इसके अतिरिक्त चौगान के निकट स्थित विष्णु की नैकुंठ प्रतिमा भी उल्लेखनीय है।

चम्बा-चौगान के एक किनारे पर स्थित हरिराय मंदिर में विष्णु की बैकुंठ चुतुमूर्ति अष्टधातु में निर्मित है, जिसके दायें-बायें पार्श्व में गदादेवी व चक्रपुरुष हैं और साथ ही भू-देवी की प्रतिमा भूमि से निकली दिखाई देती है। इस प्रतिमा में विष्णुधर्मोत्तर पुराण का कथ्य रूपायित हुआ है। चम्बा के ही बंसीगोपाल मंदिर में राधा की लगभग 3 फुट ऊँची पीतल की एक सुंदर प्रतिमा है। इसमें राधा की साड़ी पर टांकरी लिपि उकेरी गई है, जिससे यह मूर्ति 17वीं शताब्दी की निर्धारित होती है। इसमें उकेरे गए आलेख के अनुसार यह उसी ब्रदीदास नामक मूर्तिकार द्वारा निर्मित है, जिसने महला की हिडिम्बादेवी की मूर्ति बनाई थी। इन दोनों प्रतिमाओं के लक्षण समान हैं।

वर्तमान हिमाचल के अन्य स्थानों में भी कई महत्त्वपूर्ण कांस्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। फतहपुर (काँगड़ा) से फोगल द्वारा खोजी गई बुद्ध की ध्यान-मुद्रा

में धातु प्रतिमा अब लाहौर के संग्रहालय में है। फोगल ने इस मूर्ति को लिपि के आधार पर 6ठी शताब्दी का माना है। कांगड़ा से प्राप्त महाभैरवी की एक बहुत प्रसिद्ध प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय, नई ल्लिी में संरक्षित है; जबकि विष्णु के वासुदेव रूप की (गदादेवी, चक्रपुरुष और पृथ्वी सहित) कांगड़ा से प्राप्त प्रतिमा चंडीगढ़ संग्रहालय में है।

कुल्लू से प्राप्त अशोक कालीन (185-75 ई. पूर्व) तांबे का कलात्मक लोटा ब्रिटिश म्यूज़ियम में संरक्षित है। लोटे के बाहरी भाग में राजकुमार सिद्धार्थ को सरपट दौड़ते चार घोड़ों वाले रथ पर सवार दर्शाया गया है। इस लोटे को मेजर हे ने 1857 में कुल्लू के एक बौद्ध विहार से खोज निकाला था। कुल्लू से ही प्राप्त सूर्य की एक पीतल प्रतिमा क्लीवलैंड के कला संग्रहालय में है।

कुल्लू, शिमला तथा सिरमौर ज़िलों में देवी-देवताओं के धातु के मोहरे निर्मित करने की पुरानी परम्परा रही है। कुल्लू के निर्मंड क्षेत्र से 11वीं शताब्दी का सुजुनी देवी का कलात्मक मोहरा शटलवर्थ ने खोज निकाला था, जिसके बारे में एम. पोस्टल ने विवरण प्रस्तुत किया है।

मंडी ज़िला के करसोग कस्बे के निकट स्थित काओ गाँव में कामाख्या देवी का प्राचीन मंदिर है। इसमें कामाख्या देवी की मूर्ति की प्रभावली का अलंकरण सुंदर है। 9वीं शताब्दी की इस प्रतिमा में विधाधर, मालाधर आदि भी दर्शाये गए हैं। अष्टधातु की यह प्रतिमा विरल कलात्मक महत्त्व की है।

शिमला जिला का हाटकोटी स्थान पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। अनेक प्रस्तर मंदिरों व मूर्तियों के साथ हाटकोटी के प्रमुख मंदिर में दुर्गा की अष्टधातु की प्रतिमा महिषासुर मर्दिनी के रूप में प्रतिहार काल की उत्कृट प्रतिमा है। इसमें देवी को महिषासुर का वध करते हुए दर्शाया गया है। यह प्रतिमा 10वीं शताब्दी की है। इस तरह प्रदेश की कला धरोहर के रूप में प्रस्तर तथा धातु की अनेक मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापित हैं और इनमें से अनेक भूरि सिंह संग्रहालय, चम्बा तथा राज्य संग्रहालय, शिमला में संरक्षित हैं।

मृणमूर्तियों का प्रतीक विधान

डॉ. दिलवर शर्मा

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की सृजनात्मकता व कल्पनाशीलता का विकास-प्रवाह आदिकाल से अनवरत चलता आ रहा है। मानव जब गुफाओं में निवास करता था और शिकार करके जीवन निर्वाह करता था तभी से उसने दीवारों पर अपने क्रिया-कलापों के चित्र उकेरने प्रारम्भ कर दिए थे, जो पुरातत्त्ववेत्ताओं व इतिहासकारों के लिए अमूल्य धरोहर बन गए। कालान्तर में उसने इन चित्रों के साथ-साथ अपने ईष्ट देवों, राजाओं, महापुरुषों व प्रियजनों को मूर्त रूप देना प्रारम्भ कर दिया। भारत में सम्भवतः पहली मूर्ति हड़प्पा सभ्यता के काल में निर्मित हुई थी। ये मूर्तियाँ विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से बनती रही हैं।

प्रारम्भिक मूर्तियाँ पाषाण की रही होंगी, क्योंकि ये मूर्तियाँ काफी टिकाऊ होती हैं। सैकड़ों वर्षों तक मौसम व जलवायु के प्रभावों को झेल सकती हैं। इन मूर्तियों के निर्माण हेतु विशेष प्रकार के चट्टानी पत्थरों की आवश्यकता होती है और इनके निर्माण में समय भी अधिक लगता है। तराशते समय थोड़ी-सी भी असावधानी सारी योजना को चौपट कर सकती है।

समय के साथ-साथ मूर्तियों की माँग बढ़ती गई और शिल्पियों (तक्षकों) ने ऐसी अन्य निर्माण सामग्रियों पर ध्यान केन्द्रित करना आरम्भ किया, जो आसानी से प्राप्त हो सके तथा जिसे तैयार करने में समय भी कम लगे। इसके लिए उन्होंने मिट्टी को चुना। इसकी व्यापकता व अन्य गुणों के कारण यह शिल्पियों की पहली पसन्द बन गई। यद्यपि इसका प्रयोग चिरस्थाई रहनेवाली मूर्तियों के लिए नहीं किया जाता था।

हिमाचल प्रदेश में हिन्दू तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित मृण्-मूर्तियाँ ही पाई जाती हैं। इन मृण्मूर्तियों के प्रतीक विधान का अध्ययन निम्न चरणों में किया जा सकता है–

सामग्री : मृण् मूर्तियों के निर्माण हेतु इस प्रकार की सामग्री की आवश्यकता होती है–1. मृण् या मृद्, 2. अस्थिपंजर निर्माण हेतु काष्ठ, 3. अष्टबन्ध, 4. रज्जु, 5. सर्कट कल्प, 6. पट या कपड़ा तथा 7. वर्ण या रंग। इन सात पदार्थों के अलावा कुछ और पदार्थों की भी आवश्यकता होती है जैसे–धान या गेहूँ का भूसा तथा अन्य घास, जो स्थानीय स्तर पर उपलब्ध होता है। आधुनिक काल में निर्माण सामग्री में भी बदलाव आए हैं जैसे–मृण् या मृद् के स्थान पर 'बहुलक मृदा' का उपयोग और इसके अतिरिक्त एल्यूमिनियम फॉयल, क्राफ्ट तार, चम्मच, मॉडल आदि का भी प्रयोग हो रहा है।

मृण् : मृण् आवश्यक सामग्री है, क्योंकि सम्पूर्ण दृश्य भाग इसी का होता है। शरीर के विभिन्न उभार मृण् से ही बनाए जाते हैं। हिमाचल व अन्य स्थानों में प्रयुक्त होनेवाली मृण् प्रायः तीन प्रकार की होती है–(क) जंगल मृण् (arid clay) (ख) अनूप मृण् (damp clay) तथा (ग) मिश्रित मृदा (mixed clay)। इन तीनों प्रकार की मृदाओं का प्रयोग मृण् मूर्तियों के निर्माण में होता है।

आधुनिक काल में मूर्तियों के निर्माण में 'बहुलक मृदा' का भी प्रयोग किया जाता है। यह वास्तव में मृण् न होकर एक कृत्रिम उत्पाद है, जो मृण् सदृश दिखाई देता है। यह एक बहुलक PVC पाउडर होता है। इसके गुण मृण् समान ही होते हैं; परन्तु कुछ मामलों में यह मृण् से अधिक अच्छा है। यह पाउडर बहुत ही मुलायम होता है तथा इसे सामान्य भट्ठी में 129C से 135C तापमान पर मात्र 15 से 30 मिनट में पकाया जा सकता है। इसका आविष्कार व प्रयोग वर्ष 1939 में गुड़ियों के निर्माण के लिए हुआ था। प्रारम्भ में इसे FIMO (Fifils Modeling Compound) नाम दिया गया था।

काष्ठ या शूल : काष्ट का प्रयोग अस्थिपंजर के निर्माण यानी मूर्ति का ढाँचा बनाने के लिए किया जाता है। लकड़ी के चयन में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। लकड़ी हल्की, मज़बूत व अच्छी तरह से उपचारित व seasoned होनी चाहिए। काष्ट या शूल अधिक भारी नहीं होना चाहिए अन्यथा मूर्ति भारी हो जाती है। आधुनिक सामग्री के रूप में ढाँचा एल्यूमिनियम फॉयल से भी बनाया जा सकता है।

अष्टबन्ध : यह एक प्रकार का Glue है, जो बन्धन का कार्य करता है। इसे मूर्ति के ढाँचे पर रज्जु या रस्सी बाँधने के पश्चात् ही प्रयोग किया जाता है। यह इसे अपने स्थान पर स्थिर कर देता है। इसे जानवरों से प्राप्त किया जाता रहा है।

रज्जु : एक प्रकार की रस्सी, जिससे लकड़ी के बने आर्मेचर को बाँधा जाता है।

सर्कर-कल्प : यह चूने के पत्थर से बनाया गया एक पेस्ट होता है, जिसे मृण् के प्रत्येक लेप के सूखने के पश्चात् लगाया जाता है, ताकि उस पर आई दरारों

को भरकर उसे रन्ध्ररहित बनाया जा सके।

पट तथा वर्ण : पट एक कपड़ा है, जिसका प्रयोग मूर्ति के विभिन्न अंगों को लपेटने के लिए किया जाता है। वर्ण अर्थात् रंग, जो मूर्ति के ऊपर लगाया जाता है। बहुत से वर्ण प्राकृतिक पदार्थों से ही निर्मित होते थे; परन्तु अब संश्लिष्ट रंग आ जाने पर स्वयं रंग बनाने का कार्य समाप्त होता जा रहा है। इसके अलावा कुछ स्थानीय घास का भी प्रयोग किया जाता है, जैसा कि ताबो गोन्पा में कुछ मूर्तियों के आसन के निर्माण में स्थानीय घास 'सिपग्या' का प्रयोग किया गया है।

मृण् की तैयारी : मूर्ति के निर्माण में मृण् का चयन व उसकी तैयारी एक महत्त्वपूर्ण चरण है। पहले मृदा को लेकर उसका बारीक चूर्ण बनाया जाता है और उसके पश्चात् उसे छान लिया जाता है। फिर उसे गूँथकर व उस पर गीला कपड़ा रखकर 12 से 15 दिनों तक छोड़ दिया जाता है। गीला कपड़ा मृण् की नमी को बनाए रखता है। इससे यह 12 से 15 दिनों में अच्छी तरह मिल जाती है। अर्थात् इसके कणों में समंजन बढ़ जाता है। वास्तव में यह कार्य 12 पदों में पूर्ण होता है। तत्पश्चात् यह मृण् मूर्ति निर्माण हेतु तैयार हो जाती है।

ढाँचे का निर्माण : मृदा के तैयार होने के पश्चात् सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अस्थिपंजर यानी ढाँचे का निर्माण होता है। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इसी पर मूर्ति का आकार निर्भर करता है। शास्त्रों में विभिन्न मूर्तियों का आकार व अवस्था निर्धारित होती है। मूर्ति का अस्थिपंजर भी खड़ी अवस्था में बनाया जाता है। शरीर के सभी अंगों का माप भी शास्त्रों में वर्णित अनुपात में ही बनाया जाता है। पंजर बनाने के लिए लकड़ी हल्की, उपचारित व टिकाऊ होनी चाहिए। शूल पंजर के निर्माण के पश्चात् इस पर अष्टबन्ध का लेप लगाया जाता है, जो एक प्रकार का 'ग्लू' या वार्निश होता है। तत्पश्चात् इसको रस्सियों से बाँध दिया जाता है। इसको और मज़बूत बनाने हेतु लकड़ी तथा लोहे की कीलों का भी प्रयोग किया जाता है। विभिन्न अंगों पर उभार हेतु धान का भूसा, अन्य स्थानीय घास अथवा आधुनिक साधन के रूप में धातु की एक पतली चादर लगाई जाती है। भूसे पर वस्त्र लपेट दिया जाता है।

अस्थिपंजर पर मृण् का लेप : अस्थिपंजर ढाँचे के निर्माण के पश्चात् पंजर पर पहले से तैयार किए गए मृण् का लेप चढ़ाया जाता है। छोटी मूर्तियाँ मृण् के एक लेप से तैयार की जा सकती हैं, परन्तु बड़े आकार की मूर्तियों में सारी मृण् एक ही बार नहीं लगाई जा सकती है। इन में मृण् कई तहों (layers) में लगाई जाती है। परन्तु यह आवश्यक है कि अगली तह तभी लगाई जाए, जब पहली पूर्णतया सूख चुकी हो। इस प्रकार पूरी मृण् को तब तक लगाया जाता है, जब तक शरीर के सभी अंगों में वांछित उभार न आ जाएँ। मूर्तियों के सिर अधिकतर अलग

ही बनाए जाते हैं। चूँकि चेहरे के निर्माण में बहुत-सी बारीकियों को ध्यान में रखना होता है। अतः इसके निर्माण में अधिक समय लगता है। सिर को धड़ पर लगाने के पश्चात् मृण् के एक या दो कोट दोबारा लगाए जाते हैं, ताकि सम्पूर्ण मूर्ति एक रूप में दिखे। इसके पश्चात् बहुत ही महीन मृण्; चूने का चूर्ण व ग्लू या गोंद का लेप तैयार किया जाता है। इस लेप की पतली तहें मूर्ति पर लगाई जाती हैं, जिससे मूर्ति की सभी दरारें भर जाती हैं। इस लेप को लगाते समय भी यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि अगली तह तभी लगाई जाए जब पहली पूर्णतया सूख चुकी हो। इन तहों में अष्टबन्ध की मात्रा प्रायः कम रखी जाती है, ताकि मूर्ति की सतह पर पपड़ी न बने। यह सब हो जाने पर मूर्ति को लगभग 10 दिनों के लिए छोड़ दिया जाता है और उसके बाद ही अगला चरण प्रारम्भ किया जाता है।

मूर्ति को रंग देना : यह मूर्ति निर्माण का अन्तिम चरण है। प्राचीन काल में रंगों का निर्माण कलाकार स्वयं किया करते थे तथा अधिकतर रंग प्राकृतिक होते थे, परन्तु अब समय की बचत हेतु संश्लिष्ट रंगों का प्रयोग अधिक किया जाता है। शास्त्रों तथा परम्परा द्वारा निर्धारित रंग का ही मूर्ति पर प्रयोग किया जाता है। इसमें कलाकारों को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती है।

हिमाचल में अनेक स्थानों पर मृण् मूर्तियाँ विद्यमान हैं, परन्तु किन्नौर तथा लाहुल-स्पीति में मृण् मूर्तियों की प्रचुरता है। यहाँ हिन्दू मतावलम्बियों की तुलना में बौद्ध धर्म के अनुयायियों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ अधिक मात्रा में मौजूद हैं। तावो बौद्ध विहार में कई मृण्-मूर्तियाँ एक हज़ार वर्ष से भी अधिक प्राचीन हैं। इस विहार के मुख्य मन्दिर का निर्माण वर्ष 996 ईस्वी में हुआ था। मूर्तियाँ मठ की दीवारों पर हुक के द्वारा लगाई गई हैं, जो एक मंडल को निरूपित करती हैं। साधक वहाँ फर्श पर बैठकर साधना कर सकते हैं। इसी तरह 'लालुंग' बौद्ध मन्दिर की मूर्तियाँ प्राचीन व दर्शनीय हैं। इन पर चढ़े रंग प्राकृतिक पदार्थों से तैयार किए गए हैं।

हिमाचल में मृण्-मूर्ति विधान के अध्ययन हेतु लाहुल में केलंग के समीप गुमरॉग बौद्ध मन्दिर सर्वाधिक उपयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण है। इस मन्दिर में मृण्-मूर्तियों की काफी टूट-फूट हो चुकी है, अतः वहाँ मूर्तियाँ विभिन्न चरणों में विद्यमान हैं।

हिमाचल में बौद्धों के अतिरिक्त हिन्दू मतावलम्बियों की मृण्-मूर्तियाँ भी हैं। इनमें एक 'गुग्गा' व उसके अनुयायियों की हैं। परन्तु ये मूर्तियाँ कलात्मक नहीं हैं। हिमाचल में दुर्गा पूजा प्रारम्भ होने के कारण मृण्-मूर्ति निर्माण को काफी प्रोत्साहन मिला है, जो आधुनिक कलाकारों के लिए अच्छा विषय है। आज इन मूर्तियों के निर्माण में प्राचीन व अर्वाचीन विधियों का सामंजस्य होने से इस कला के जीवित रहने की सम्भावना बढ़ गई है।

जनजातीय क्षेत्रों का कला वैभव

डॉ. लक्ष्मण सिंह ठाकुर

आज हिमाचल प्रदेश के तीन ज़िलों में दस जनजातियों को अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्राप्त है। इन ज़िलों में किन्नौर और लाहुल-स्पीति का समस्त क्षेत्र तथा चम्बा ज़िला की भरमौर तथा पांगी तहसील और होली उप तहसील शामिल हैं। हिमाचल की ये अनुसूचित जनजातियाँ निम्नलिखित हैं–

1. भोट, बोध, 2. गद्दी, 3. गुज्जर, 4. जाद, लाम्बा, खाम्पा, 5. कनौरा, किन्नौरा, 6. लाहुला, 7. पंगवाल, 8. स्वांगला, 9. बेट, बेड़ा, 10. डोम्बा, गरा, जोबा।

उपरोक्त क्षेत्रों की कलाओं का वैभव और इनका इतिहास अनूठा है। भरमौर लगभग 650 ई. से 920 ई. तक चम्बा के शासकों की राजधानी रहा। किन्नौर व लाहुल-स्पीति गुगे राजवंश से प्रभावित रहे और इन क्षेत्रों में स्थित बौद्ध गोन्पाओं में विविध कलाओं ने जन्म लिया। बौद्ध धर्म से पहले भी यहाँ विशिष्ट कला के पुरातात्त्विक प्रमाण मिलते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में कला के ये नमूने सबसे प्राचीन हैं। यह कला लगभग 700 ई. के पश्चात् प्रायः लुप्त हो गई थी। मध्य एशिया का समस्त क्षेत्र कबीलाई गतिविधियों का केन्द्र था। पश्चिम हिमालय और तिब्बत के क्षेत्र में घुमंतू कबीलों की गतिविधियों का काफी प्रभाव देखने को मिलता है। यह प्रभाव चौथी सदी ईसवी तक चलता रहा। कबीलाई कला के पुरातात्त्विक प्रमाण हमें हिमालय मरुस्थल की चट्टानों पर उकेरी गई आकृतियों के माध्यम से प्राप्त हैं। इस कला का सम्बंध मध्य एशिया की जानवर शैली (Animal Style) से भी प्रभावित लगता है। लद्दाख और लाहुल-स्पीति की पाषाण कला की विशेषता यह है कि इस कला पर बौद्ध धर्म का तनिक भी प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। यदि हम यह कहें कि जब इन जनजातीय क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ने लगा तभी बोन धर्म से प्रभावित विशिष्ट चट्टान कला धीरे-धीरे लुप्त होती गई और आज बोन धर्म का एक भी अनुयायी यहाँ मौजूद नहीं है।

इस कला की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। चट्टानों को समतल करके उस पर पत्थर या धातु के औज़ारों से अनेक आकृतियाँ अंकित की जाती थीं। इन आकृतियों में जानवर, मानव, पक्षी, वृक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, वृत्ताकार या वर्गाकार चिह्नों इत्यादि के प्रमाण मिले हैं। सबसे अधिक रोचक आकृतियों में नौ मंज़िलों का स्तूप और स्वास्तिक चिह्न, दोनों ही बोनधर्म के सूचक हैं। स्पीति घाटी के कुन्जम, पोह, ताबो, लरी और ग्यु में अनेक चट्टानों पर अंकित कलाकृतियों को आज भी देखा जा सकता है। मानव सृजन के ये चिह्न आज संकट में हैं। सैकड़ों की संख्या में इन्हें नष्ट किया जा चुका है और इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि ये कलाकृतियाँ केवल शोध-पत्रों में ही पढ़ने को मिलेंगी न कि उन चिह्नित स्थानों में जहाँ इन्हें वास्तव में अंकित किया गया है। इस विचित्र कलाकृति का एक नमूना मैंने स्वयं लरी नामक गाँव से उठाकर राज्य संग्रहालय में जमा किया है।

जनजातीय क्षेत्रों में चट्टानकला (Rock-Art) के साथ-साथ विभिन्न कलाओं का आगमन हुआ। चम्बा जिला के भरमौर (ब्रह्मपुर) में चम्बा के राजवंश ने अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। इन मंदिरों में मूर्तियाँ स्थापित करवाईं तथा मंदिर को पत्थर और काष्ठ-कलाओं से सुसज्जित करवाया। इसी प्रकार लाहुल-स्पीति तथा किन्नौर में दर्जनों गोन्पाओं का स्थापत्य विशिष्ट है; क्योंकि यह भवन निर्माण कला स्थानीय स्रोतों पर आधारित थी, तभी तो यहाँ के कुछ गोन्पा सहस्त्रों वर्षों से भी पुराने हैं।

जनजातीय कलाओं में भित्तिचित्र और मूर्तिकला पर कुछ विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। जिस प्रकार घुमंतू कबीलों ने शिलाओं के समतल भाग को एक चित्रपट बनाया, उसी प्रकार चित्रकारों ने गोन्पाओं की दीवारों को एक अच्छा माध्यम बनाकर भित्तिचित्रों में अपने कला-कौशल को प्रदर्शित किया। बौद्ध धर्म के अनेक सूत्रों तथा तंत्र ग्रन्थों को समझकर उसमें वर्णित दर्शन एवं दृश्यों को रेखाओं और रंगों के माध्यम से आम नागरिकों को समझाने का प्रयास किया गया है। ताबो, रिब्बा और नाको गोन्पाओं के भित्तिचित्रों के कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

ताबो बौद्ध विहार के मण्डप में *गण्डव्यूहसूत्र* का चित्रण किया गया है। इस चित्रण के दृश्य 41 में उपरोक्त सूत्र के अध्याय 55 की रचना की गई है। इस दृश्य में सुमनामुख शहर में सुधन को एक दुर्गाकार गृह में बैठे हुए दिखाया गया है; तुरंत उनके सिर पर मञ्जुश्री का हाथ पहुँच जाता है। आशीर्वाद लेने के पश्चात् मञ्जुश्री सुधन को *समंतभद्रचर्या मण्डल* में अपने स्थान में स्थापित करते हैं (समन्तभद्रचर्यामण्डलेऽतारयित्वा स्वदेशे च प्रतिष्ठाप्य)। बारह लाइन का अभिलेख भी इसी अध्याय से उद्धृत किया गया है। इतनी ही दक्षता से पूर्वी दीवार पर बुद्ध का संक्षिप्त जीवन वृत्तांत निपुणता से चित्रित किया गया है; इस संक्षिप्त वृत्तांत में

लगभग 9-10 दृश्य दिखाए गए हैं। प्रथम दृश्य में बुद्ध को स्वर्ग से सीढ़ी द्वारा उतरते हुए दर्शाया गया है, दूसरे दृश्य में बुद्ध श्रावस्ती में आम के पेड़ के नीचे अपने शिष्यों को चमत्कार दिखा रहे हैं, जबकि तीसरे दृश्य में बन्दर एक पात्र में बुद्ध को शहद भेंट कर रहा है। दीवार पर सबसे नीचे नालगिरि नामक क्रुद्ध हाथी को शांत करके बुद्ध सौम्य मुद्रा में हाथी को आशीर्वाद दे रहे हैं। अगले दृश्य में चमत्कार दिखाकर बुद्ध गंगा को पार करके कुटि गाँव में जनसमूह को धर्म का उपदेश दे रहे हैं। दृश्य 5 के तीन भाग हैं। पहले में बुद्ध के महापरिनिर्वाण को दिखाया गया है। ठीक इसके ऊपरी भाग में दाह संस्कार का विचित्र दृश्य है, जिसमें 54-वृत्ताकार का एक चैस बॉक्स बना है। अन्ततः इसी दृश्य के दक्षिण की तरफ बुद्ध के शरीर धातु के अवशेषों को एक कलश में एकत्रित किया गया है। मल्ला के समितिकक्ष के इर्द-गिर्द काफी लोगों को नमस्कार मुद्रा में दर्शाया गया है। यह निश्चित रूप से कुशिनगर का दृश्य है, जहाँ विभिन्न समुदायों के लोग बुद्ध के अवशेषों के अंतिम दर्शन कर रहे हैं।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध के जीवन वृत्तान्त को विभिन्न घटनाक्रम में वर्णित किया गया है। ताबो में चित्रित इस भित्तिचित्र का किसी भी नियमानुकूल सूत्र से मेल नहीं है। ताबो के सूत्र संग्रह में ललितविस्तर, बुद्धचरित, महापरिनिर्वाणसूत्र और उत्तरतंत्र के काफी पन्ने मिले हैं। यह प्रतीत होता है कि ताबो में बुद्ध वृत्तांत के चित्रों को कई स्रोतों के आधार पर चित्रित किया गया है। इस वृत्तांत को मण्डप की परिक्रमा से ठीक पहले पूर्ण किया गया है।

रिब्बा के बौद्ध विहार में अभिलेखों के साथ कुछ खास व्यक्तियों की प्रतिकृतियाँ चित्रित की गई थीं। उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख इस विहार को महादेवी (छेन मो) अर्थात् तारा को समर्पित होने का व्याख्यान करता है। यह बहुमूल्य कृति अग्नि को भेंट चढ़ गई है। नाको बौद्ध परिसर के मुख्य विहार में वैरोचन के दो मण्डल कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं।

भित्तिचित्रों के साथ बौद्ध-विहारों में मृण, धातु व काष्ठ की मूर्तियाँ बनाने का प्रचलन था। ये दोनों कलाएँ एक-दूसरे की पूरक थीं। लक्षणा देवी और शक्तिदेवी के साथ भरमौर में धातु की विशाल मूर्तियाँ पायी गई हैं, जिनमें नंदी, गणेश और नृसिंह प्रमुख हैं। उत्तरी भारत में गुप्तकालीन शैली के पश्चात् ये मूर्तियाँ अपने कला वैभव और तकनीकी के लिए विख्यात हैं। उतनी ही दक्षता से बौद्ध गोन्पाओं में भी मिट्टी व काष्ठ की मूर्तियों का सृजन किया गया। ताबो विहार में चार-शरीरवाली वैरोचन की मूर्ति 996 ईसवी में बनाकर तैयार की गई। *सर्व तथागत तत्त्व संग्रह* के अनुसार वैरोचन को बोधयङ्गी-मुद्रा में दर्शाया गया है, जो ज्ञान की मुद्रा है। वैरोचन मण्डल के अन्य सदस्यों को भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार वर्णित *'मुद्रा आसन*

और लक्षणों' में दिखाया गया है।

रोपा, पूह और चारंग बौद्ध गोन्पाओं में अनेक काष्ठ व मृण की मूर्तियाँ विद्यमान हैं। रोपा का बौद्ध विहार ताबो, पूह और चारंग विहारों का समकालीन है। यहाँ काष्ठ की दो विशाल मूर्तियाँ हैं। ये दोनों मूर्तियाँ 170 सेमी ऊँची हैं, और आर्य अवलोकितेश्वर तथा वज्रसत्त्व से सम्बंधित हैं। काष्ठ नक्काशी के ये विशिष्ट उदाहरण हैं। लाहलुंग के गोन्पा की दीवारों पर मिट्टी की मूर्तियों के अद्भुत कला-कौशल का प्रदर्शन हुआ है। यहीं पर एक अन्य विहार में ताबो के समान वैरोचन के चार शरीरवाली मिट्टी की मूर्ति को बनाने का प्रयास किया गया है। लाहुल के उदयपुर में मृकुला देवी का मंदिर ब्राह्मण और बौद्ध नक्काशी का बेजोड़ उदाहरण है। गर्भगृह के दरवाजे पर पेदय और उतरंग पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ प्रतिमा लक्षण में विशिष्ट हैं। मण्डप की छत पर बुद्धचरित पर आधारित मारदर्शन का दृश्य दक्षता से नक्काशा गया है। एक अन्य दृश्य में गन्धर्व और अप्सरा शिवलिंग की पूजा करते दिखाए गए हैं। त्रिलोकनाथ में नागर शैली में निर्मित मंदिर में अवलोकितेश्वर की दो पाषाण मूर्तियाँ प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ विद्वान् इन्हें शैव मत से जोड़ते हैं, जो उचित नहीं है। त्रिलोकनाथ महात्म्य और शारदा लिपि के एक अभिलेख से स्पष्ट है कि यह मंदिर आर्य अवलोकितेश्वर को ही समर्पित है।

उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि जनजातीय क्षेत्रों में भी अन्य क्षेत्रों के समान कई कला शैलियाँ प्रफुल्लित हुईं और ये क्षेत्र निरंतर उत्तरी-भारत के अन्य क्षेत्रों से सम्पर्क में रहे।

चट्टानों पर उकेरी आकृतियों और भरमौर क्षेत्र में निर्मित मूर्तियों और मंदिरों को छोड़कर दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक सभी भित्ति-चित्रों व मूर्तियों का विश्लेषण करने से इस कला का नामकरण किया जा सकता है। यह प्रयास जी. टूची और उनके शिष्यों ने भी किया है। टूची ने इसे गुगे शैली की संज्ञा दी है। अक्तूबर 2009 में चीन के बिजिंग विश्वविद्यालय में आयोजित चौथी अंतर्राष्ट्रीय तिब्बती पुरातत्त्व एवं कला संगोष्ठी में इस कला का नामकरण मङरि शैली किया है, जो ज़्यादा उपयुक्त हो सकता है। इस शैली में अनेक शैलियों का समावेश किया गया है। इस शैली के केन्द्र लद्दाख से लेकर लाहुल स्पीति, किन्नौर तथा पश्चिम तिब्बत के थोलिंग, मंगनांग, दूङ्गकर, झीयांग और पुहरांग क्षेत्रों तक फैले हुए थे। दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक का काल इस शैली का उत्कर्ष काल रहा है।

लोक देवताओं के रथ एवं मूर्तियाँ

डॉ. कमल के. प्यासा

हिमालय की गोद में बसा हिमाचल प्रदेश जहाँ प्राकृतिक सुंदरता के कारण अपनी अलग पहचान बनाए हुए है; वहीं यहाँ की देव-संस्कृति भी बाहर से आनेवाले पर्यटकों के मन को मोह लेती है; क्योंकि इस संस्कृति से कई चमत्कारी व आश्चर्यप्रद बातों को जानने व समझने का अवसर भी मिल पाता है। यहाँ का जनजीवन लोक देवताओं से जुड़ा हुआ है। लगभग सभी ग्रामीण मेलों, तीज-त्योहारों व शादी-ब्याह आदि में लोक देवताओं की अपनी विशेष भूमिका रहती है। लोक देवता का अपने 'गूर' के माध्यम से वार्तालाप, आम जनता से बातचीत, देवता का रूठना और फिर मान जाना आदि सभी चमत्कार की ही बातें हैं! लोक देवताओं द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करने के भी अपने अलग-अलग साधन यहाँ देखने को मिलते हैं। अपने क्षेत्र की यात्रा के विभिन्न साधनों के आधार पर हम इन लोक देवताओं को चार वर्गों में बाँट सकते हैं–1. रथवाले देवता, 2. पालकीवाले देवता, 3. करंडूवाले देवता, व 4. अन्य यात्रा साधन वाले देवी-देवता।

देवता का रथ

देव रथ दो प्रकार के प्रयोग में देखे गए हैं–पहियेवाले रथ तथा बिना पहिए के रथ। पहियेवाले रथों का प्रयोग केवल कुल्लू ज़िला के, कुल्लू तथा मणिकर्ण में ही देखा गया है। कुल्लू के इस रथ में दशहरा के अवसर पर भगवान रघुनाथ की प्रतिमा को रखा जाता है और रथ को रस्सों से खींचा जाता है। यह रघुनाथ की प्रसिद्ध रथयात्रा है। दूसरा लकड़ी का छोटा रथ मणिकर्ण में भी दशहरे वाले दिन इसी तरह की रथयात्रा के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

दूसरी प्रकार के देव रथ बिना पहियों के होते हैं; जिन्हें मानव द्वारा ही अपने कंधों पर उठाया जाता है। इस तरह के देव रथों की निर्माण प्रक्रिया को समझने

के लिए रथ को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–1. शीर्ष भाग, 2. मध्य भाग व 3. अधो भाग।

शीर्ष भाग में रथ का ऊपर का हिस्सा ही शामिल रहता है और इसी भाग के आधार पर रथ की शैली का नामकरण किया जाता है। शीर्ष में सबसे ऊपर लोक देवता का छत्र होता है। यह छत्र सोने या चाँदी का बना होता है। छत्र के नीचे मण्डप, छतरी, पग्ग व त्रिकोण का भाग होता है।

मध्य भाग में देवता के सभी मोहरे सजे रहते हैं। इन मोहरों की संख्या एक से लेकर नौ तक होती है। त्रिकोण शैली के रथों में मोहरों की संख्या 16 तक पहुँच जाती है। जेठा मोहरा बड़ा व सामने लगा होता है। इस मोहरे के गले में सोने-चाँदी के हार होते हैं, जिनके साथ 'चानणी' भी लगी रहती है। इसके अतिरिक्त 'डोडा माला' से भी देवता का विशेष शृंगार होता है।

अधो भाग में देव रथ का नीचे का हिस्सा आता है, जिसे कपड़े से ढका होता है। देव रथ को उठानेवाली बल्लियाँ (अर्गलाएँ) इसी हिस्से में आती हैं। कमरवाले इसी भाग में चाँदी के सिक्कों का हार भी 'चोलू' पर सजा रहता है।

देव रथ का समस्त आंतरिक भाग अखरोट, शिंहा या तुन्ही की लकड़ी से तैयार किया जाता है। सबसे नीचेवाले भाग में एक पटड़े पर चारों कोनों पर पावानुमा (स्तंभनुमा) एक-एक लकड़ी लगी होती है, जिसे 'थम्मलू' भी कहते हैं। चारों थम्मलुओं के शीर्ष भाग कपड़े से बाहर निकले रहते हैं तथा ऊपर इन्हें सोने या चाँदी की पत्ती से सजा दिया जाता है। इन्हें 'जान्हू या गुड्डियाँ' के नाम से जाना जाता है। नीचेवाले पटड़े के ऊपर फिर थम्मलुओं के साथ एक पटड़े की तरह का फट्टा लगाकर एक डिब्बानुमा ढाँचा तैयार किया जाता है, जिसे 'कोठरू' कहते हैं। कोठरू के ऊपर एक अन्य आयताकार लकड़ी का लम्बा टुकड़ा लगा होता है, जो ऊपर जाकर शीर्ष भाग को सुरक्षित रखता है। इसके मध्य चपटे भाग में मोहरे लगाए जाते हैं।

इसी 'कोठरू' के बाहर दोनों ओर से रथ को उठाने के लिए लम्बी-लम्बी बल्लियाँ लगी रहती हैं। बल्लियाँ एक विशेष प्रकार की लचकदार लकड़ी, खरशु या मोहरू के छोटे पेड़ की बनी होती हैं। इन्हें 'राघली' के नाम से भी जाना जाता है। प्रत्येक 'राघली' की मोटाई ढ़ाई इंच से तीन इंच तक तथा लम्बाई 8 फुट से लेकर 14 फुट तक की होती है। कम लम्बाई की 'राघली' वाले देव रथ विशेष रूप से शिमला, सिरमौर, सोलन व मंडी के करसोग क्षेत्र में देखे जा सकते हैं। किन्नौर तथा शिमला के ऊपरी क्षेत्रों के देव रथों में ढलान ज़्यादा होती है। किन्नौर क्षेत्र के देवरथों के शीर्ष गोलाकार होते हैं। छत्र के चारों ओर इतने लम्बे और काले बाल सजे होते हैं कि देवता का चेहरा ही छिप जाता है।

मंडप शैली : गोलाकार लकड़ी का बाहरी भाग सोने, चाँदी, पीतल या ताँबे का बना होता है तथा बाहर से सुंदर मखमल के रंगीन कपड़ों से सजा होता है। गोलाकार मंडप के आधार की ओर एक पट्‌टी बनी होती है, जो मंडप को मज़बूत करती है। इसी आधार पट्‌टी के नीचे चारों ओर एक सुंदर लटकती झालर भी देखी जा सकती है। इन झालरों को विभिन्न क्षेत्रों में 'धुमक या गुम्भक' कहा जाता है। इस मंडप शैली के देव रथ कुल्लू व इसके आसपास सैंज तथा मंडी के सराज व करसोग क्षेत्र में देखे जा सकते हैं।

छतरी शैली : इस शैली के देवरथों में रथ का शीर्ष भाग छतरी की तरह फैला होता है। फैले हुए इस भाग को 'टोप' भी कहा जाता है। समस्त छतरी का आंतरिक ढाँचा एक विशेष प्रकार की लकड़ी से तैयार किया जाता है, जिसे बाद में सुंदर कपड़ों से ढक दिया जाता है। छतरी के सामनेवाले भाग को सुसज्जित करने के लिए फिर से कपड़े का आवरण चढ़ाया जाता है, जिसे 'जंजीर' कहा जाता है। इस शैली के देव रथ मंडी के सैंज तथा करसोग क्षेत्र में देखे जा सकते हैं।

पग्ग शैली : पग्ग अर्थात् पगड़ी शैली के देव रथों का शीर्ष भाग पगड़ी की तरह होता है। पग्ग शैली के भी दो प्रकार हैं–साधारण पग्ग तथा गुच्छम-गुच्छा पग्ग। साधारण पग्ग शैली के देवरथों का शीर्ष भाग सीधा कपड़ा लपेटकर ही तैयार किया गया होता है, जबकि गुच्छम-गुच्छा शैली के देव रथों में कपड़े को ठूँस-ठूँस कर शीर्ष भाग तैयार किया जाता है, जिससे पग्ग का कपड़ा गुच्छों की तरह दिखाई देता है। पग्ग शैली के देव रथ मंडी के सैंज, चौहार, बालीचौकी व चच्योट आदि क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं।

त्रिकोण शैली : इस शैली के रथों का शीर्ष तथा मध्य भाग त्रिकोण में होता है। मंडी क्षेत्र में इस शैली के अधिकतर रथ देवियों से ही सम्बंधित होते हैं। यह शैली भी दो प्रकार की है–ढलवाँ त्रिकोण शैली व खड़ी सीधी त्रिकोण शैली। खड़ी त्रिकोण शैली में देवी के रथ आते हैं, जबकि ढलवाँ त्रिकोण शैली में देवता के रथ भी आते हैं। इस तरह के त्रिकोण रथों में देव मोहरे केवल सामने की ओर से देखने को मिलते हैं। ये देव मोहरे 1 से लेकर 16 तक हो सकते हैं। इस प्रकार के देवरथ केवल सामने से खुले होते हैं। इनका शेष सारा भाग सुंदर कपड़ों व बालों से सजा रहता है।

त्रिकोण शैली के देव रथों में देव मोहरों की सजावट भी अलग-अलग ढंग से की जाती है। इसमें 1 से लेकर 16 तक मोहरे आ जाते हैं। इनके साथ ही सोने-चाँदी के छत्र भी कहीं-कहीं देखने को मिलते हैं। मुख्य शीर्ष के छत्र के साथ दायें-बायें मध्य व निम्न भाग में भी चार-पाँच छोटे-छोटे छत्र देखने को मिलते हैं। इसके साथ मुख्य शीर्ष छत्र के नीचे की ओर आगे निकले छाया रक्षक छत्र भी रथ

की शोभा बढ़ाते हैं। ढलवाँ त्रिकोण शैली के देव रथ मंडी, कुल्लू व शिमला के कुछ भागों में देखे जा सकते हैं।

लाहुल का देवरथ : इनमें मुख्य रथ लाहुल के प्रधान देव 'गेपंग' का है। इसके शीर्ष भाग में सोने-चाँदी का छत्र सजा रहता है। मध्य भाग में केवल देव मोहरा होता है, जिसे विभिन्न रंग-बिरंगे कपड़ों द्वारा लपेटकर गोलाकार बना दिया जाता है। इस तरह मोहरा पूर्ण रूप से कपड़े से ढक दिया जाता है। ढके हुए इसी गोलाकार मोहरे पर लोग कपड़े चढ़ाते हैं, जो लटकते हुए दिखाई देते हैं। जो व्यक्ति देवरथ के इस शीर्ष भाग को अपने कंधों पर उठाता है उसे 'हरूक' कहा जाता है।

देवरथ को जब भूमि पर रखा जाता है तो इसके ठहराव के लिए अंग्रेज़ी के वर्ण वाई आकार की एक विशेष लकड़ी का प्रयोग किया जाता है, जिसे 'ब्रंच' कहा जाता है। रथ में नीचे की ओर एक अन्य छोटा-सा मोहरा देवी माता का लगा होता है, जो दिखाई भी देता है। इस विशेष प्रकार के रथ को उठाने के लिए केवल एक ही वल्ली (राघली) का प्रयोग किया जाता है तथा लाहुल में इस बल्ली को 'चर्र' के नाम से जानते हैं। यह सारी 'चर्र' भी रंग-बिरंगे कपड़ों से सजी होती है। इन रंग-बिरंगे कपड़ों को 'यद' कहा जाता है। गेपंग मलाणा के जमलू देवता का छोटा भाई बताया जाता है। सारी लाहुल घाटी की यात्रा वह अपने इसी विशेष प्रकार के रथ से करता है। इसी रथ के साथ वह अपने भाई जमलू से मिलने मलाणा (कुल्लू) भी जाता है।

देव पालकी

यात्राशील देव पालकी भी प्रदेश के कई भागों में प्रचलित है। यह पालकी भी दो प्रकार की होती है—साधारण मूर्ति पालकी व देव मोहरा पालकी। साधारण पालकी आयताकार लकड़ी की होती है। पालकी के चारों ओर सुंदर तराशी गई लकड़ी की रोक लगाई जाती है। पालकी के पीछे की रोक दायें-बायें व आगे की रोक से ऊँची होती है। पालकी की छत पिरामिड आकार की अथवा सपाट होती है। दोनों तरह की पालकियाँ सुंदर कपड़ों, छत्रों, फूलों व हारों से सजी होतीं हैं। साधारण प्रकार की पालकियों में देव मूर्तियों को ही आम तौर पर रखा जाता है। जैसे कि मंडी के देव माधोराय की पालकी में अष्टधातु से बनी मूर्ति रखी जाती है। यह पालकी शिवरात्रि और होली के पर्व पर शहर की परिक्रमा के लिए निकाली जाती है।

कुल्लू दशहरा के दौरान रघुनाथ जी की सुलतानपुर से ढालपुर मैदान तक की यात्रा के लिए भी ऐसी पालकी प्रयोग में लाई जाती है। जिला सिरमौर में भी परशुराम की मूर्ति पालकी में निकाली जाती है। सिरमौर की ही माँ शारदा की पालकी में देवी के मुखौटे के साथ मूर्ति भी चलती है। लेकिन गाँव धरोटी से केवल मुखौटा ही चलता

है। देव पालकी को उठाने के लिए कभी चार आदमी तो कभी दो ही आदमी लगते हैं। यदि आगे व पीछे अर्गलाओं के मध्य रस्सी बाँध कर उसमें एक अर्गला फँसा दी जाये तो दो ही आदमी पालकी उठाते हैं।

सुंदरनगर (मंडी) में महामाया देवी की मूर्ति को भी नलवाड़ मेले में पालकी में निकाला जाता है। निरमंड कुल्लू में परशुराम की पालकी निकाली जाती है और इसी तरह से चम्बा में भी देव पालकी मिंजर मेले में निकलती है। इस प्रकार की पालकियों में चार आदमी उठाने को लगते हैं; दो आगे और दो पीछे। किन्नौर व शिमला के ऊपरी क्षेत्रों की पालकियों में देव मोहरे स्थापित रहते हैं।

देव करडू

देवरथों से पूर्व देव मोहरे एक स्थान से दूसरे स्थान पर करडुओं के माध्यम से पहुँचाए जाते थे। इस बात की पुष्टि कुल्लू के 18 करडुओं की देव गाथा से भी होती है। ढालपुर-कुल्लू के देवता वीरनाथ का करडू आज भी देखा जा सकता है। करडू बाँस की बनी एक पिटारीनुमा टोकरी को कहा जाता है, जिसमें देवता के मोहरे के साथ चावल, गेंहूँ व कपड़ा भी रखा जाता है। यात्राशील देवता के करडू भी दो प्रकार के होते हैं—हाथ से उठाया जानेवाला करडू व सिर पर रखने वाला करडू। हाथ से उठाये जानेवाले करडू को एक अर्द्धवृत्ताकार बाँस के बने हत्थे से उठाया जाता है जबकि सिर पर उठाये जानेवाले करडू में कोई भी हत्था नहीं लगा होता है। इसलिए इसे सिर पर उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता है। ऐसे करडूवाले देवता जमलू, नीरू थाची मंडी की शिवरात्रि में शामिल होते हैं।

अन्य देव यात्रा साधन

वे सभी देवता जो प्रतीकात्मक होते हैं, उन्हें आदमी उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते हैं। मानव प्रतीकात्मक में शनि देव आ जाते हैं। इनमें देव शनि की लोहे की मानव रूपी आकृति सरसों के तेल भरे लोहे के पात्र में रखी होती है, जिसमें हर शनिवार को शनिदान लेनेवाले दान ग्रहण करते हैं। अन्य देव प्रतीकों में देव छड़ियाँ व पंखे आते हैं, जो किसी देवी-देवता या ऋषि-मुनि के प्रतीक के रूप में पूजे जाते हैं। मंडी के कमरू नाग देवता का सूर्य पंखा ही देवता का प्रतीक है और वही देवता की उपस्थिति दर्शाता है। शिवरात्रि में देव कमरूनाग का सूर्य पंखा ही टारना मंदिर पहुँच कर उपस्थिति देता है। देव कमरूनाग, जिन्हें भगवान विष्णु का रूप माना जाता है, उसकी स्पष्ट आकृति इसी सूर्य पंखे में अंकित मिलती है। पत्ते के आकारवाला यह पंखा सोने व चाँदी का बना है। सोने वाले हिस्से के मध्य में भगवान विष्णु को बैठी मुद्रा में दिखाया गया है। विष्णु के चारों

हाथों में शंख, चक्र, गदा व कमल देखे जा सकते हैं। विष्णु के दोनों तरफ नीचे तीन-तीन सेवकों को तथा शीर्ष भाग में नाग देवता को भगवान की रक्षा में छत्र रूप में दिखाया गया है।

भाद्रपद मास में देव गुग्गा की लोहे की छड़ी को गुग्गा के पुजारी उठाकर घर-घर पहुँचकर पैसे व अनाज एकत्रित करते हैं। लोहे की इस छड़ पर लाल डोरी, लोहे के कड़े व शीर्ष पर लाल रंग की झंडी लगी रहती है। एक व्यक्ति के हाथ में यह छड़ी होती है। कांगड़ा क्षेत्र में गुग्गा-छड़ी में चूड़ियाँ भी लगी रहती हैं।

भादों मास में ही राधा अष्टमी को चम्बा राजघराने से देव चरपट नाथ की छड़ी मणिमहेश की यात्रा पर निकलती है। सिरमौर में नई फसल आने की खुशी में या किसी विशेष पर्व-त्योहार के अवसर पर लोग देव स्थल पर पहुँचकर सबसे पहले देवता को आमंत्रित करते हैं। देवता रूपी छड़, एक धातु पात्र (जिसे 'पत्था' कहा जाता है) के साथ मंदिर के किसी व्यक्ति के साथ चलती है। उसके साथ दूसरे लोग भी चलते हैं। यह छड़ पत्थे के साथ जहाँ-जहाँ पहुँचती है, लोग अपनी श्रद्धानुसार पैसे व अनाज पत्थे में डालते जाते हैं। फिर यह सारा चढ़ावा मंदिर में लाया जाता है। कई दिनों बाद 'छड़' व 'पत्था' किसी निश्चित स्थान अर्थात् चौपाल पर रख दिये जाते हैं और लोग वहीं पहुँचकर पैसे व अनाज डाल देते हैं। इसी चढ़ावे से फिर मंदिर या देव स्थल पर भंडारे का आयोजन भी किया जाता है। मंडी के नारायण गढ़ के जमलू देव की चाँदी की छड़ भी शिवरात्रि मेले में शामिल होकर जमलू देव का प्रतिनिधित्व करती है।

ज़िला सिरमौर में पालकियों के अतिरिक्त देव मोहरे मानव के द्वारा भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये जाते हैं। इनमें देव मोहरा व्यक्ति की छाती से बाँध दिया जाता है। इसके लिए एक विशेष प्रकार की कमीज़ रूपी वंदक का प्रयोग किया जाता है। देव मोहरा ले जानेवाला यह व्यक्ति 'गणिता' कहलाता है। यही 'गणिता' देव मोहरे को लेकर नंगे पाँव यात्रा करता है। दिन में एक बार अपने हाथों से तैयार किया हुआ भोजन ग्रहण करता है। इसी 'गणिता' की कही हर बात को देवता की ही वाणी माना जाता है।

यात्राशील देवताओं के रथ की कुछ अन्य विशेष पहचानों में सबसे आवश्यक देवता का बाजा होता है, जिसमें ढोल, नगारा, शहनाई, करनाल तथा नरसिंगा आदि हैं। इनके बिना देव यात्रा का कोई भी अर्थ नहीं रह जाता।

हिमाचली आभूषणों का कला-शिल्प

कमल प्रसाद शर्मा

आभूषणों के प्रति आकर्षण मानव जीवन की जन्मजात प्रवृत्ति रही है और यह तथ्य सार्वभौमिक है। सौंदर्य-प्रसाधन या रूप-शृंगार की ओर मानव का नैसर्गिक झुकाव रहा है। इसकी प्रेरणा संभवतः उसे प्रकृति के पल-पल बदलते ऋतु क्रम से ही मिली है। इन्हीं से मानव ने अपने रूप का शृंगार करना सीखा, अलंकरण की कला को अपनाया और धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति उसके जीवन का अंग बन गई। जैसे-जैसे मानव जीवन का विकास होता गया, उसमें विभिन्न साधनों द्वारा अपने रूप को अलंकृत करने की रुचि भी विकसित और परिष्कृत होती गई।

आभूषण के प्रति मनुष्य का, विशेषतः स्त्री का आकर्षण आदिकाल से रहा है। बिना आभूषण के वनिता का सुन्दर मुख भी शोभित नहीं होता– *'न कान्तारमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।'*[1] सहज शृंगार प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के माध्यमों में आभूषण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'आभूषण' की शाब्दिक व्युत्पत्ति है–*आ समन्तात् भूषणम् अलंकरणम्*। जो शरीर की शोभा को समग्र रूप से बढ़ाए, उसे आभूषण कहते हैं। भारतीय स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण-प्रेमी रहे हैं। प्राचीनकाल में यह विचारधारा प्रचलित थी कि विशेष प्रकार के रत्न तथा स्वर्णाभूषण धारण करने से आयु की वृद्धि होती है, भूत-प्रेत बाधा से रक्षा के साथ सभी रोग नष्ट होते हैं। यह भी कारण था कि लोग रुचिपूर्वक आभूषण धारण करते थे।[2] किन्तु आभूषण मुख्यतया शारीरिक सौंदर्य की वृद्धि के लिए ही पहने जाते हैं।

वैदिक युग में ही यह विश्वास प्रचलित हो गया था कि स्वर्ण धारण करनेवाले को राक्षस, पिशाच आदि नहीं सताते, क्योंकि यह देवताओं का उत्पन्न किया हुआ तेज है–*देवानामोजः प्रथमजम्*। अतः स्वर्णालंकार धारण करनेवाला दीर्घकाल तक देवलोक में रहता है तथा इस लोक में अपनी आयु की वृद्धि करता है।

हिमाचल प्रदेश के निचले क्षेत्रों और दुर्गम हिमालयी क्षेत्रों में निवास

करनेवाले लोगों के रहन-सहन में काफी अंतर है। ऊना, हमीरपुर कांगड़ा, बिलासपुर और सोलन क्षेत्र के पारम्परिक आभूषणों पर साथ सटे मैदानी क्षेत्र का प्रभाव झलकता है, जबकि ऊँचे पहाड़ी क्षेत्रों के आभूषण भिन्न हैं। पुराने समय में लोगों का पारम्परिक आभूषणों के प्रति इतना लगाव था कि वे न तो इन्हें विक्रय करते थे और न ही पिघलाते थे। वर्तमान में भी पारम्परिक आभूषण काफी प्रचलित हैं। किन्नौर और कुल्लू के आभूषण वर्तमान समय तक बाहरी प्रभाव से अछूते हैं।

हिमाचल में रहनेवाली जनजातियों के लोग विशेष अवसरों पर पहाड़ी शैली में बने सुन्दर किस्म के रंग-बिरंगे वस्त्र और आभूषण पहनते हैं। आज भी अनेक जनजातियाँ खालों, परों, सुन्दर बनावट के पत्थरों तथा विभिन्न ऋतुओं के फूलों का उपयोग सजावट के लिए करते हैं और ऋतु के अनुसार सूती या ऊनी वस्त्र पहनते हैं। सुंदर वस्त्र तथा आभूषण इन जन-समुदायों के जीवन में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

चम्बा के आभूषण

हिमाचल के चम्बा क्षेत्र में स्त्रियों द्वारा माथे से ऊपर पहननेवाले आभूषणों में *चौंक* अति लोकप्रिय है। इसे लगभग सभी आयु वर्ग की स्त्रियाँ पहनती हैं। आधुनिकता के कारण कुछ पहाड़ी क्षेत्रों में चौंक की लोकप्रियता समाप्त हो रही है। परन्तु गद्दणें चौंक पहनना अभी भी आवश्यक समझती हैं। प्रायः इसे विवाह, मेले व त्योहार के अवसर पर पहना जाता है। यह आभूषण गुम्बदनुमा, प्याले की भांति होता है और बौद्ध स्तूप की तरह दिखता है। औंधे ढंग से चोटी के बिल्कुल मध्य एक जंजीर के साथ इसे बालों के सहारे पहना जाता है। यह प्रायः चाँदी का बना होता है। मुख्य चौंक के साथ-साथ दो छोटे चौंक भी कानों के निकट सिर पर लटकते हैं, जिन्हें *फुल* अथवा *फुल्लू* कहा जाता है। फुल का आकार चौंक का लगभग 1/3 होता है। गद्दी परिवारों में स्त्रियाँ इसे सुहाग का चिह्न मानती हैं। चाँदी का यह गहना छह से दस तोले का होता है। चम्बा क्षेत्र की उच्चवर्गीय स्त्रियाँ स्वर्ण निर्मित चौंक धारण करती हैं। चौंक का व्यास 8 सेंटीमीटर और ऊँचाई पाँच से दस सेंटीमीटर होती है।

सिर के आभूषणों में दूसरा मुख्य आभूषण *शृंगारपट्टी* अथवा *सिंगारपट्टी* है। यह पट्टीनुमा आभूषण है। इसमें किनारों पर दो हुक होते हैं। यह सोने अथवा चाँदी का बनाया जाता है। कई *शृंगारपट्टियों* का डिज़ाइन पीपल के पत्तेनुमा होता है, जिन्हें सोने अथवा चाँदी की तारों की सहायता से आपस में जोड़ा जाता है। इसका वज़न बीस से पच्चीस ग्राम होता है। शृंगारपट्टी के साथ असंख्य झुमके लटके होते हैं, जो सिर के हिलने पर मनमोहक आवाज़ में झनझनाते हैं। शृंगारपट्टी के अंत में बड़े झुमके अथवा कर्ण-फूल लटके होते हैं। तब इसे *झटपट्टू* कहा जाता है।

चाँदी की शृंगारपट्टी में जब मध्य में अर्द्ध अथवा पूर्ण चंद्राकार पीपल के पत्ते या कमल-पुष्प पर घुँघरू लटकते हैं, तब इसे *चीरी* अथवा *चिड़ी* कहा जाता है। चाँदी से बनी चिड़ी के मण्डल पर मीनाकारी की जाती है। यह गहना ललाट के मध्य में धारण किया जाता है। एक अन्य आभूषण जो शृंगारपट्टी की तरह दिखता है, *जंजीर* अथवा *शांगली* के नाम से जाना जाता है। यह चम्बा के साथ लगते ऊपरी चुराह की स्त्रियों का मुख्य आभूषण है। यह *जोजी* के साथ जुड़ा होता है और कान के ऊपर एक तरफ लटकता है। जंजीर या शांगली बीस से पच्चीस सेंटीमीटर लम्बी होती है। एक अन्य आभूषण *झूमर,* जो सम्भवतः मैदानों से यहाँ पहुँचा है, सिर पर पहना जाता है। झूमर में गोल झनझनाते मोतियों का गुच्छा होता है, जो चाँदी की जंजीरों की मदद से ललाट के दाहिनी ओर लटकता है और कुंडे (हुक) की मदद से बालों में टिकाया जाता है। इसे भटियात की स्त्रियाँ धारण करती हैं।

माँग टिक्का अथवा *मान टिक्का* माथे पर लगाया जानेवाला सोने का पाँच से छह तोले तक का आभूषण है। इसका आकार गोल होता है। कई बार इसे जंजीर की मदद से हुक के द्वारा शृंगारपट्टी से जोड़ा जाता है। स्वर्ण से निर्मित पीपल की पत्तियाँ अथवा गोल मोती मण्डल के नीचे मध्य में लटकते हैं। मण्डल के टुकड़े का व्यास पाँच से छह सेंटीमीटर और वज़न पंद्रह से पचास ग्राम होता है। दूसरे प्रकार का माँग-टिक्का अर्द्धचंद्राकार होता है, जिसे–*अर्गचन्द्रू* अथवा चन्द्रू (अर्द्ध-चन्द्र) कहा जाता है। यह नीले, सफेद या लाल रंग के हीरे के आकार के छोटे पत्थरों से सजाया जाता है। अर्गचन्द्रू के किनारों पर गोल दाने लगे होते हैं। यह प्रायः ललाट के दाहिनी तरफ पहना जाता है। यह सोने का बनाया जाता है। इसका वज़न पाँच से आठ ग्राम का होता है।

क्लिप नामक आभूषण अधिकतर चाँदी का होता है, जो कानों के पास बालों में लगाया जाता है। इसके द्वारा बालों का शृंगार किया जाता है। यह क्लिप सोने का भी होता है। इसका वज़न एक से पाँच ग्राम होता है। *टिकलू* और *बिन्दलू* ललाट के मध्य में धारण किया जाता है। टिकलू का व्यास चवन्नी के बराबर होता है। सोने अथवा चाँदी का बिन्दलू बिन्दी के आकार का होता है।

चम्बा क्षेत्र में विवाह, करवा-चौथ और मेलों इत्यादि अवसरों पर मुख्यतः *बालू, बेसार* और *नथ* बड़े चाव के साथ धारण किए जाते हैं। प्राचीन समय से नथ और बालू को सुहाग की निशानी (पति की दीर्घायु के लिए) माना जाता है। मुख्य **नासाभूषण** *बालू* और *बेसार* नाक के दाहिनी ओर धारण किया जाता है और यह गाल पर आ जाता है। केशों के मध्य लगाई गई एक लम्बी जंजीर से यह अपने स्थान पर स्थिर रहता है, क्योंकि बालू पहनने में भारी होता है। भोजन ग्रहण करते समय स्त्रियों को बालू एक हाथ से उठाना पड़ता है। बालू गोलाकार होता है। सादा

बालू भरमौर की स्त्रियाँ धारण करती हैं। इसमें गोलाकार टिक्कियाँ मोतियों के साथ बालू के गोले में लगी होती हैं। यह पन्द्रह से बीस ग्राम का होता है।

छुटकीवाले बालू के भीतरी भाग को छुटकी की मदद से सजाया जाता है। सादे बालू में भीतरी भाग खाली होता है, जबकि छुटकीवाले बालू में भीतरी भाग भी भरा होता है। जड़ाऊ बालू के भीतर अर्द्धचन्द्राकार भाग को कई प्रकार के नगों से सजाया जाता है। इसके मध्य में छुटकी भी जड़ाऊ होती है। *बेसार* एक अन्य प्रकार का बालू है, इसमें एक पक्षी की आकृति होती है। कई बार फूल की आकृति भी होती है। इस प्रकार का बालू वज़न में काफी भारी होता है। यह लगभग तीस से चालीस ग्राम का होता है। स्वर्ण से निर्मित बालू की गोलाई का व्यास आठ से दस सेंटीमीटर होता है।

नथ एक आकर्षक एवं सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय नासाभूषण है। स्वर्ण से निर्मित यह आभूषण स्त्री के कौमार्य और विवाहिता में भेद को प्रदर्शित करता है। बालू का वज़न अधिक होने के कारण उसके स्थान पर नथ धारण किया जाता है।

बुलाक अथवा *ब्लाक* नासाभूषण को धारण करने के लिए स्त्रियों को नथुनें छिदवाने पड़ते हैं। पीपल के पत्ते की आकृतिनुमा ब्लाक ओंठों के आगे लटकती है। *ब्लाकड़ू* अथवा *डोडा* छोटा ब्लाक होता है। ब्लाक का वज़न आठ से बारह ग्राम और ब्लाकड़ू का तीन से चार ग्राम होता है। पांगी, भरमौर और चुराह की स्त्रियाँ आज भी इसे धारण करती हैं। सोने की *तिल्ली* नामक नासाभूषण हिमाचल के पूरे क्षेत्र में लोकप्रिय है। तिल्ली लगभग एक से तीन ग्राम की होती है।

तिल्ली स्वर्ण और रजत की कई डिज़ाइन की होती हैं। *कोके* का वज़न आधे ग्राम तक होता है। कोका छोटी कील की तरह होता है। स्वर्ण निर्मित कोके में सिरे पर लाल पत्थर 'थेवा' लगा होता है। *फूली* नामक नासाभूषण तिल्ली और कोके की तरह धारण किया जाता है। लेकिन इसका डिज़ाइन अलग होता है। स्वर्ण अथवा रजत निर्मित इस आभूषण के सिरे पर नग अथवा रत्न जड़ा होता है। सोने का एक अन्य नासाभूषण *लौंग* तीन से छह ग्राम का होता है। इसका एक सिरे का व्यास पचास पैसे के सिक्के के बराबर होता है। मध्य में कई बार लाल रंग का नग जड़ा होता है। इसे दाहिनी नासिका में धारण किया जाता है। *कुण्डू* आभूषण प्रायः स्वर्ण का ही होता है। यह नाक से नीचे लटकता है। इसका व्यास डेढ़ से तीन सेंटीमीटर और वज़न एक से दो ग्राम होता है।

मुरकी अथवा *नथली* भी ब्लाक की भांति होंठ के आगे लटकती है। इसमें लाल नग लगा होता है। यह भी स्वर्ण निर्मित होती है। इसके कई आकार और डिज़ाइन होते हैं। चार ग्राम से अधिक वज़न होने पर इसे *नथली* कहा जाता है। मुरकी पांगी की महिलाओं का विशेष नासाभूषण है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण निर्मित

लगभग एक ग्राम की *टिक्की* भी पांगी की महिलाएँ पहनती हैं।

हिमाचल में मिलनेवाले **कर्णाभूषणों** में *बाले, वाली, फेर, कलू, काँटे* और बूँदे इत्यादि हैं। *बाले* चम्बा क्षेत्र का प्रमुख कर्णाभूषण है। इसका आकार बालियों की तरह होता है। बाले स्वर्ण और रजत के बने होते हैं। उभरी हुई अर्द्धचंद्राकार धातु पर बेलबूटे अथवा फूल-पत्ती बने होते हैं, जो चूल के द्वारा तार पर एक किनारे सजाए जाते हैं, इसके दूसरी तरफ हुक होती है। इनका वज़न अनुमानतः पंद्रह से तीस ग्राम तक होता है। यह कानों के लटकते हुए भाग पर धारण किए जाते हैं। गुज्जर स्त्रियों द्वारा धारण किए जानेवाले वाले को *गोल* कहा जाता है। बाले के छोटे रूप को *बाली* अथवा *छिक्कू* कहा जाता है। पांगी और ऊपरी चुराह में स्त्रियों द्वारा कानों के पोरों में दस से बारह बालियाँ पहनने का रिवाज़ है। इन्हें *कलू* या कडू कहा जाता है। ये चाँदी की बालियाँ दो से तीन ग्राम की होती हैं।

वाली अथवा *तीली* साधारण कर्णाभूषण हैं, इनका वज़न कुछ ग्राम ही होता है। इसके एक सिरे पर आकर्षक डिज़ाइन होते हैं। यह कर्णाभूषण अधिकतर पांगी और चुराह की स्त्रियाँ धारण करती हैं। बूंदे चाँदी से निर्मित टॉपस हैं, जिनके नीचे चाँदी के छोटे-छोटे मनके चेन से लटकते हैं। इनका वज़न एक-दो ग्राम से तोले तक का होता है। *कांतयालो* चाँदी का बड़े आकार का कर्णाभूषण है। यह सात से आठ तोले का होता है।

फरालू चम्बा के चुराह और पांगी क्षेत्र का जड़ाऊ कर्णाभूषण है। इसमें मीनाकारी अथवा गोलाकार नक्काशी की होती है और मध्य में वैदूर्यमणि अथवा फिरोजा लगा होता है। इसका बाहरी किनारा तारे की तरह दिखता है। फरालू चम्बा क्षेत्र में गद्दी, चुराही और गुज्जर समुदाय की महिलाओं द्वारा धारण किया जाता है। रजत निर्मित इस कर्णाभूषण में लाल और नीले रंग के शीशे के नग जड़े होते हैं। चम्बा क्षेत्र में प्रचलित *झुमके* गुम्बदनुमा आभूषण है और इसमें गोल मोतियों के छोटे गुच्छे लटकते हैं। *डोडकू झुमके* चाँदी के बने कान के आभूषण हैं, जिसके साथ जंजीर लगी होती है। ये छह से आठ ग्राम के होते हैं। *बलेण* चुराह में धारण किया जानेवाला एक अन्य कर्णाभूषण है।

सांकली अथवा *सांगली* ऊपरी चुराह और पांगी तहसील में प्रचलित है। पांगी में इसे *सांगड़ी* के नाम से जानते हैं। सांकली लम्बी जंजीर की जोड़ी है, जो दोनों कानों से वक्षःस्थल पर लटकती है। सांकली की एक जोड़ी तीस से चालीस ग्राम की होती है। *कर्णफूल* फूल से मिलता-जुलता आभूषण है। चम्बा क्षेत्र में यह एक तोले का होता है। जब कर्णफूल के साथ पत्थर का *सब्जा* लटकता है तो इसे *लूरका* कहा जाता है। इसके दूसरे प्रकार को डेड़कू अथवा ढूड़कू कहा जाता है और यह हुक की मदद से कानों में लटकता है। इस आभूषण की जोड़ी का वज़न

अनुमानतः पंद्रह से तीस ग्राम होता है और लम्बाई लगभग चार से पाँच सेंटीमीटर होती है। *काँटे* या *चलिक* चम्बा क्षेत्र में प्रचलित कर्णाभूषण हैं, जो चार से छह सेंटीमीटर लम्बे और सात से आठ तोले के होते हैं। गुम्बदनुमा आकार का यह कर्णाभूषण कानों के पोर पर लटकता है, जिसके साथ जंजीरों की मदद से कई मोती और जड़ाऊ पत्थर लटकते हैं। कांटे स्वर्ण अथवा रजत दोनों धातुओं के होते हैं। चम्बा क्षेत्र में प्रचलित एक और स्वर्ण से बना बुन्देनुमा कर्णाभूषण है, जिसे *लिटकनी* कहते हैं। इनका वज़न एक तोले का होता है। *टुंगणी* चाँदी के टॉप्स होते हैं जो डेढ़ से दो तोले के होते हैं। दुर वारीक तार के रूप में होता है। इसका वज़न दस ग्राम होता है। यह कान के पोर में डाले जाते हैं।

छब्बा-बाली अर्थात् छोटी टोकरीनुमा बाली का उद्भव गद्दी समुदाय में हुआ। छब्बा-बाली में प्रायः चाँदी के घुँघरू लटकते हैं। जिस जंजीर के साथ यह लटकती है, उसमें भी घुँघरू होते हैं। चम्बा-बाली चम्बा क्षेत्र की स्वर्ण और रजत निर्मित बाली है, जिसका वज़न 2 से 4 ग्राम तक होता है। इसमें नग जड़े होते हैं। *सुतरा बाली* पांगी क्षेत्र का रजत निर्मित कर्णाभूषण है। इसके अतिरिक्त चम्बा क्षेत्र में गद्दनों द्वारा पहना जानेवाला फेर चाँदी के 4 से 6 वृत्ताकार वाला कर्णाभूषण है, जो कान के ऊपरी भाग में पहना जाता है। यह छह से आठ तोले का होता है। *झुमका टॉपस* प्रायः गद्दी समुदाय में महिलाओं द्वारा धारण किया जानेवाला रजत निर्मित कर्णाभूषण है।

कुलीन वर्ग के पुरुष *कुण्डल* धारण करते थे। ये स्वर्ण निर्मित होते थे। वर्तमान में इनका प्रयोग कम हो गया है। पुरुषों में कर्णाभूषण *बाले* भी काफी लोकप्रिय हैं। स्वर्ण निर्मित बाले कानों के पोर में पहने जाते हैं। इसमें बादामनुमा सब्ज़ा लगा होता है। इसका वज़न चौबीस ग्राम होता है। गद्दी कानों में *मुरकियाँ* डालते हैं। मुरकियों को *नन्ती* भी कहते हैं। ये मुरकियाँ स्वर्ण निर्मित होती हैं। कई बार मुरकियों के साथ नग लगी जंजीर भी कान के गिर्द लगाते हैं। नन्ती का वज़न बारह से चौबीस ग्राम होता है।

सतलड़ी हार चम्बा क्षेत्र का मुख्य **कंठाभूषण** है। हिन्दू धर्म में सात का अंक शुभ माना जाता है। इसमें सात लड़ियाँ टुकड़ियों की मदद से जुड़ी होती हैं। इसे *चन्द्रहार* अथवा *गुन्ज़* भी कहा जाता है। यह कंठाभूषण लगभग दो सौ ग्राम का होता है और इसकी लम्बाई तीस से पैंतीस सेंटीमीटर होती है। सतलड़ी हार को कुछ बदलाव के पश्चात *रानीहार* भी कहा जाता है। यह स्वर्ण एवं रजत दोनों धातुओं का होता है। चन्द्रहार चाँदी का तीस से चालीस तोले का होता है। *चम्पाकली* अथवा *छमकली* चाँदी की बारीक तीलियों का बना एक तोले का हार होता है। इसमें चम्पक की आकृति के टुकड़े एक माला के रूप में पिरोये होते हैं। *पैंडल* गोलाकार, दिल

अथवा पान की आकृति का होता है और वक्षःस्थल के मध्य में रहता है। स्वर्ण निर्मित यह कंठाभूषण दस से पच्चीस ग्राम का होता है।

जौ माला (जयमाला) का आकार चम्पाकली से छोटा होता है। इसके मुकुल गोली की तरह दिखते हैं। चाँदी के इस हार का वज़न बीस से तीस तोले तक होता है। कुछ क्षेत्रों में इसे *चम्पाकली* भी कहा जाता है। इसमें जौ की आकृति के टुकड़े एक माला के रूप में पिरोये जाते हैं। *कंठा,* गले का सौंदर्य बढ़ानेवाला आभूषण है। इसमें गोलाकार पैंडल भी होता है, जो डोरी की मदद से गले में लटकता है। इसमें उसी धातु के दाने होते हैं, जिस धातु का पैंडल होता है। यह प्रायः स्वर्ण निर्मित होता है और इसका वज़न पचास ग्राम होता है। इसे पुरुष भी धारण करते हैं।

सबीही अथवा *सवीही* गले में पहना जानेवाला चाँदी का आभूषण होता है, जिसे अधिकतर ब्रह्मपुर और चम्बा क्षेत्र में पहना जाता है। यह ताबीज़ की तरह का, लेकिन बड़े आकार का होता है। इसमें शीशे के नीचे देवी-देवता का चित्र होता है। सबीह पर्शियन शब्द है, जिसका अर्थ व्यक्ति चित्र होता है। सबीही आयताकार चाँदी के फ्रेम की तरह होती है जिसमें चित्र रखकर उस पर शीशा लगाया जाता है। सबीही के ऊपरी भाग में चार अथवा पाँच गोल हुक लगे होते हैं, जिनसे रंगीन धागा गुज़ारा जाता है। इसके निचले भाग में कई झुमके लगे होते हैं। इसका वज़न दो सौ से ढाई सौ ग्राम होता है। इसे पुरुष भी धारण करते हैं।

सबीही से मिलता-जुलता कंठाभूषण *ताबीत* चम्बा क्षेत्र के गुजरों में स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते हैं। यह दुरात्माओं को दूर रखने के लिए पहना जाता है। कई बार इसमें नीले रंग का शीशा भी जड़ा होता है। इसका वज़न ढाई सौ ग्राम के लगभग होता है। गले की शोभा के लिए *गलसरी* अथवा *गलबन्द* एक अन्य आभूषण है। यह गले के बिल्कुल करीब बाँधा जाता है। यह लगभग पंद्रह से बीस सेंटीमीटर लम्बा और दो से तीन सेंटीमीटर चौड़ा होता है। इसका वज़न तीस से पचास ग्राम होता है। इसमें सामानांतर स्वर्ण मनकों की कई डोरियाँ होती हैं। इस प्रकार की गलसरी को *कंठणू* के नाम से जाना जाता है। दूसरे प्रकार की गलसरी में चाँदी की कई आयताकार टुकड़ियों से मनकों की डोरियों को पिरोया जाता है और इन टुकड़ियों पर मीनाकारी की जाती है। इस प्रकार के आभूषण को पांगी में *गलपट्टू* कहा जाता है। *रालु* मूसलनुमा आभूषण है, जो मध्य से मोटा होता है और गले में कसकर बाँधा जाता है। यह एक तोले चाँदी का होता है। *तिल-हार* एक प्रकार का मंगलसूत्र है, जो प्रायः गोरखों द्वारा धारण किया जाता है। इसमें मध्य में पैंडल होता है। यह छह से दस ग्राम का होता है। *नालियाँ* नामक आभूषण में चाँदी की एक से दो तोले की दो डंडिया आपस में जुड़ी होती हैं।

हँसली, हनसीरी अथवा *सहीरी* हँसिये की तरह दिखती है। यह चौड़ी

रजत पट्टी की वनी होती है। हँसली का मण्डल अड़तीस से पचास सेंटीमीटर और वज़न डेढ़ सौ से ढाई सौ ग्राम होता है। यह कंठाभूषण गुज्जर पुरुष धारण करते हैं। भारी चाँदी की हँसली मध्य एशिया प्रजाति का कंठाभूषण रहा है। छतराड़ी की सातवीं-आठवीं शताब्दी की शक्ति देवी की प्रतिमा को हँसली पहने दिखाया गया है। *दीनार माला* सोने अथवा चाँदी के सिक्कों का बना कंठाभूषण है। इसे निष्क भी कहा जाता है। यह कंठाभूषण स्त्री और पुरुष दोनों धारण करते हैं। चम्बा क्षेत्र में गुज्जर एवं पंगवाल महिलाएँ इन्हें प्रायः धारण करती हैं। *महेल* अथवा *हमेल* सिक्कों से बना कंठाभूषण है। यह गुज्जरों में काफी लोकप्रिय है। भरमौर में इसे *कढू* कहा जाता है। पुराने चाँदी के चार आनों या आठ आनों अथवा रुपये के सिक्कों को रजत निर्मित कड़ुओं की मदद से धागे में पिरोकर हार का रूप दिया जाता है। कई वार इसके मध्य में दिलनुमा चाँदी की टुकड़ी लगाई जाती है। यह आभूषण सौ से डेढ़ सौ ग्राम का होता है।

मंज चाँदी का एक से दो तोले का आयताकार आभूषण होता है। *जंतर* सोने, चाँदी अथवा ताँबे की छोटी आयताकार डिब्बी होती है। इसे दुरात्माओं से रक्षा के लिए धारण किया जाता है। यह लगभग पाँच ग्राम का होता है। इसे स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते हैं। *रालु नांदी* अथवा *सिंगी* आठ से पन्द्रह ग्राम का रजत अथवा स्वर्ण आभूषण होता है। इसकी लम्बाई तीन से आठ सेंटीमिटर होती है। यह शिव के डमरू की भांति होता है। गद्दी अथवा नाथ सम्प्रदाय के लोग इसे शिव के प्रतीक रूप में पहनते हैं। इसे स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते हैं। *बुगड़ी* अथवा *बुटकी* नामक कंठाभूषण सिक्के की आकृति का होता है। जब यह कंठाभूषण चाँदी का बनाया जाता है तो इसे *दौसार* कहा जाता है। प्रायः बुगड़ी में आठ से दस टुकड़ियाँ होती हैं और हर टुकड़ी पाँच से दस ग्राम की होती है।

औतर नामक कंठाभूषण जनजातीय महिलाओं द्वारा पहना जाता है। जब परिवार में पुरुष की निःसंतान मृत्यु हो जाती है, तब मृतक की प्रतिमूर्ति आयताकार चाँदी की टुकड़ी पर बनाई जाती है। इसका वज़न दो से तीन ग्राम होता है। इसे काले धागे की मदद से गले में पहना जाता है। *डोडमाला* स्त्रियों का प्रमुख आभूषण है। रीठे के आकार के बने चाँदी के दानों को माला के रूप में पिरोकर बनाया जाता है। इसका वज़न चार से पाँच तोले का होता है। चाँदी से बने रीठे की आकृति के दाने सूती धागे में पिरोये जाते हैं। साधारणतया डोडमाला तीन-लड़ी की होती है, लेकिन दो-लड़ी की डोडमाला अधिक लोकप्रिय है। आमतौर पर हार में पच्चीस से तीस दाने होते हैं। इस हार का वज़न एक सौ बीस से एक सौ अस्सी ग्राम होता है। यह चम्बा क्षेत्र का सबसे लोकप्रिय कंठाभूषण है। *कापूरीमाला* को गद्दी लोग लाहुल से लाते हैं। यह रंग-बिरंगे पत्थर जैसे कठोर मणकों की माला होती है।

आभूषणों का आकर्षण पुरुष वर्ग में भी देखा जा सकता है। गद्दी और पंगवाल स्वर्ण या चाँदी से बनी माला या कैंठयू पहनते हैं। पंगवाल एवं चुराही महिलाएँ *कंडहारी* अथवा *गलपट्टा* भी पहनती हैं। यह रजत निर्मित दानों से बनता है। गद्दियों, गद्दणों और गुजरियों द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले आभूषणों में कमीज़ के बटन भी होते हैं। ये चाँदी के होते हैं और जंजीर की मदद से एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। इसमें नीचे झुमके भी लगे होते हैं।

बाहु में *स्कंध* और *कूर्पार* (कोहनी) के बीच प्रगण्ड पर एक आभूषण पहनने का चलन भी काफी प्राचीन है, जो बंधनीय होता था। ये बाहुभूषण पुरुषों के प्रिय थे, किन्तु स्त्रियाँ भी इन्हें धारण करती थीं। *नन्त (अनन्त)* स्वर्ण अथवा रजत से निर्मित बाजूबंद है। यह बाहुभूषण मध्य से मोटा होता है। नन्त का सम्बंध धार्मिक आस्थाओं से जुड़ा है। नन्त के मध्य भाग में चौदह पवित्र चिह्न बने होते हैं। इसके दोनों सिरे गोल होते हैं। इसका वज़न बारह से पंद्रह ग्राम का होता है। *जन्तर* चाँदी और तांबे की आयताकार डिब्बिया होती है। इसके दोनों ओर हुक होते हैं। इसके अन्दर कागज़ पर बना यंत्र रखा जाता है अथवा जादुई आयतें लिखी होती हैं। इसे काले धागे की मदद से बाज़ू में बाँधा जाता है।

कलाई पर पहने जानेवाले आभूषण में बाजूबंद नामक मणिबंध चम्बा क्षेत्र में कलाई पर बाँधा जाता है। यह वर्तुलाकार बाजूबंद चाँदी की दो चदरों से बनता है। इन चदरों को चूलों की मदद से जोड़ा जाता है। इसे चूड़ियों की तरह कलाई में धारण किया जाता है। इसके ऊपर ककड़ी के बीज जैसा डिज़ाइन बनाया जाता है। इस मणिवंध को इस क्षेत्र के कुछ भागों में *चूड़ा* भी कहा जाता है। *कंगणू* इस क्षेत्र में काफी लोकप्रिय हैं। इन्हें *गोखरू* भी कहा जाता है। ये चूड़ी की तरह होते हैं। लेकिन इसके दोनों सिरे आपस में नहीं मिलते। कंगणू में दोनों सिरों पर शेर के मुख बने होते हैं, जबकि गोखरू में दोनों सिरों पर मगर अथवा शेर के मुख बने होते हैं। चाँदी के कंगणू ढाई सौ से चार सौ ग्राम के होते हैं।

पाँगी क्षेत्र के कंगणू, जिन्हें *हरोडू* कहा जाता है, सात सौ से आठ सौ ग्राम के होते हैं। भरमौर में इन्हें *घोड़ोली* कहा जाता है। कंगणू कई डिज़ाइन के होते हैं। वर्तमान में भी स्त्रियों एवं पुरुषों द्वारा *कंगण* धारण किए जाते हैं। यह स्वर्ण अथवा चाँदी के होते हैं। *गोजरू* अथवा *मारेड़ाड़ी* अन्दर से खोखले होते हैं। यह तीन सेंटीमीटर चौड़े होते हैं। ये चाँदी के होते हैं। ये जुड़े हुए नहीं होते, अपितु इनके सिरों पर शेरों के मुख बने होते हैं। इस क्षेत्र में बोर वाली *बंग* अथवा *चूड़ी* काफी लोकप्रिय है। ये सोने अथवा चाँदी की होती हैं। *टोके* चाँदी के बने होते हैं। यह चार सेंटीमीटर चौड़े और 1/8 सेंटीमीटर मोटे होते हैं। इसके ऊपर ककड़ी के बीज के डिज़ाइन होते हैं। अमीर वर्ग की स्त्रियाँ सोने के टोके पहनती हैं। भरमौर में इसके

साथ छोटे झुमके लगाए जाते हैं। इन्हें *छन-कंगण* कहा जाता है। छन-कंगण केवल चाँदी का ही होता है। *पौंची* घड़ी की चेन की तरह होती है। इसमें मीनाकारी की हुई आयताकार टुकड़ियों को जोड़ा जाता है। पौंची का वज़न अस्सी से सौ ग्राम होता है। इसकी चौड़ाई तीन सेंटीमीटर होती है।

हस्ताभूषण में अंगुलीयक या उर्मिका, जो अंगुलियों में पहनी जाती हैं, बहुत प्राचीन है। *आरसी* अथवा *आरसू*, जिसका अर्थ दर्पण है; स्वर्ण और चाँदी का आभूषण होता है। साधारणतया इसे दाहिने हाथ के अंगूठे में पहना जाता है। आरसी दो तोले की भारी अंगूठी होती है। पहाड़ी स्त्रियाँ मेले-त्योहारों और अन्य अवसरों में आरसी की मदद से अपना मुख देखती हैं। इसमें मध्य में दर्पण होता है और किनारे आकर्षक होते हैं। जब इस आभूषण का आकार छोटा होता है, तो इसे आरसू कहा जाता है। *नहास्त्र* में ऊपरी सिरा तिकोना और कील की तरह नुकीला होता है। नहास्त्र दो शब्दों के मेल से बना है—नाह+अस्त्र (कील+हथियार)। इसके मध्य में फिरोज़ा होता है। यह पाँच से दस ग्राम का होता है। *छल्ला* एक से चार ग्राम तक का होता है। इसमें ऊपर तीन अथवा चार चक्कर होते हैं। यह तर्जनी में पहना जाता है। *दस्तपंज* दो से तीन तोले की स्वर्ण की जंजीर है, जो हाथ के पंजे पर पहनी जाती है। *अँगूठी* अथवा *मूँदरी* का वज़न थोड़ा अधिक होता है। इसमें ऊपर नग होता है। यह स्वर्ण अथवा रजत की होती है। गद्दियों, पंगवालों और चुराहियों में मूँदरी रजत निर्मित होती है, जिसके मध्य में फिरोजा होता है। गद्दी एवं पंगवाल अंगूठियाँ पहनने के शौकीन होते हैं।

कटिभूषण में स्त्री की कटि में *मेखला, काञ्ची, सप्तकी, रशना* और *सारसनम* आभूषण पहना जाता था। *न्योचनो* राजसी एवं कुलीन स्त्रियाँ धारण करती थीं। वर्तमान में यह चलन में नहीं है। स्वर्ण निर्मित यह गहना स्त्रियों द्वारा कमर पर पहना जाता है। चाँदी के बने हुए *नांदी* और *मंज* आभूषण स्त्रियों द्वारा कमर पर पहने जाते हैं।

पाद-गुल्फ-भूषण में सर्वप्रथम टखने के आभूषण आते हैं। पर्शियन शब्द पायजेब का अर्थ वह गुल्फ आभूषण है, जो पाँवों के ऊपर पहना जाता है। स्थानीय भाषा में इसे *पंजेब* कहा जाता है। इसमें चाँदी की छोटी-छोटी गोलियाँ मधुर झनझनाहट करती हैं। इसकी चौड़ाई तीन से चार सेंटीमीटर होती है। कहा जाता है कि इसकी झनझनाहट से बिच्छू और साँप निकट नहीं आते। *तोड़ा* नामक नुपुर पायजेब की तरह ही होता है। चाँदी के तोड़े की जोड़ी का वज़न तीन सौ साठ से छह सौ ग्राम होता है। *झाँझर* नुपुर की तरह चाँदी की खोखली नली के आकार की होती है। इसके दोनों सिरे आपस में जुड़े नहीं होते। मध्य में यह घना और किनारों पर पतला होता है। हर कदम पर इसकी आवाज़ आती है।

झाँझर की जोड़ी का वज़न दो सौ से ढाई सौ ग्राम होता है। *शकुंतला चेन* पतली पट्टी की तरह होती है। चाँदी की इस चेन का वज़न साठ से सौ ग्राम होता है। पाँगी क्षेत्र में इसे *घुँघरू* कहा जाता है।

पतड़ी अथवा *पतरी* जैसा कि नाम से विदित होता है यह तीन से चार सेंटीमीटर चाँदी की चौड़ी पट्टी होती है, जिसमें चाँदी की बारीक तारों को आपस में बुना होता है। इसे टखने पर बाँधा जाता है। कई बार इसमें नीचे की ओर हुक की मदद से छोटे झुमके लटकते हैं। *घूनकड़ाई* आभूषणों में सबसे अधिक वज़न का होता है। यह इतना भारी होता है कि इसे पहनकर लम्बी दूरी तक चलने में परेशानी होती है। यह कुट धातु का बना होता है। इसकी जोड़ी का वज़न किलो से कम नहीं होता। *सगला* घूनकड़ाई की तरह का ही आभूषण है।

पैर की अंगुलियों के आभूषण में *फुल्लू* चाँदी की अंगूठी होती है। इस पर फूल की आकृति होती है। दूसरे डिज़ाइन में डिब्बीनुमा आकार में रंगीन नग होता है। इस पर छोटे झुमके भी लगे होते हैं। फुल्लू की जोड़ी का वज़न पच्चीस से तीस ग्राम होता है। *छल्ले* में तीन से चार घुमाव में चाँदी की बारीक पट्टी होती है। इसका वज़न बीस से पच्चीस ग्राम होता है। *गूठड़ा* अंगूठे के लिए चाँदी का होता है। इस पर तिकोना डिज़ाइन बना होता है, जिसमें छोटे गोल नग लगे होते हैं। *पोरड़ी* में बिन्दुनुमा डिज़ाइन होते हैं। कई बार बादाम की आकृति की चाँदी की टुकड़ी इस पर लगी होती है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र में *मोगलु, घुमक्ड* इत्यादि भी पहने जाते हैं।

किन्नौर के आभूषण

किन्नौर में महिलाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण किए जाते हैं। चाँदी की बारीक चद्दर में *दोमांग* के पुष्प डिज़ाइन छोटे छैनी-हथोड़े से बनाए जाते हैं। *तोणोल* अथवा *तोनांग* किन्नौर में किरात महिलाओं द्वारा माथे पर धारण किया जानेवाला आभूषण है। इसमें रजत की झालर होती है। एक जोड़ी रजत निर्मित तोणोल का वज़न 350 ग्राम होता है। *तकपान-शान-ग्लंग* गर्दन के ऊपर बाँधी जाने वाली रजत की जंजीर होती है। *चौक* नामक आभूषण किन्नौरी महिलाओं में अति लोकप्रिय है, जिसे लगभग सभी आयु वर्ग की स्त्रियाँ पहनती हैं। कटोरीनुमा यह आभूषण किन्नौर के निचले क्षेत्र में सुहाग की निशानी के रूप में धारण किया जाता है। रजत की पट्टी *फिएजा* माथे पर धारण की जाती है। *जूट्टी* नामक भारी वज़न वाला आभूषण बालों में धारण किया जाता है। जूट्टी को बनाने के लिए रजत के छोटे दाने, पत्तियाँ, बहुमूल्य नग, शंख और रत्ती प्रयुक्त किए जाते हैं। यह परांदे का कार्य भी करता है। महिलाओं का आभूषण *मुलुजुटी* अर्थात् रजत निर्मित वेणी है। यह पूरी वेणी नहीं होती, बल्कि वेणी के शिखर में बाँधा जानेवाला आभूषण है। मुलुजुटी रजत निर्मित छोटे-छोटे घुँघरूओं का गुच्छा होता है।

किन्नौरी महिलाएँ तृणमणि के दानों से निर्मित *पोशाल* नामक कंठाभूषण धारण करती हैं। पोशाल को महिलाएँ मध्य में छेद करके इसमें धागा पिरोकर कान के ऊपर दोनों तरफ लटकाती हैं। *डोल्टू* किन्नौरी पुरुषों का स्वर्ण निर्मित कर्णाभूषण है। किन्नौर में मामा द्वारा भाँजे को विवाह के अवसर पर डोल्टू पहनाने की प्रथा है। छोटे डोल्टू को *मुरकी* भी कहा जाता है। *अलोङ* स्वर्ण निर्मित कर्णाभूषण है। आकार में यह डोल्टू से बड़ा होता है। इसमें फिरोजा जड़ा होता है। पूह के ऊपरी क्षेत्र में अलोङ पुरुषों का प्रिय आभूषण है। इसमें स्वर्ण की अपेक्षा फिरोज़े का अधिक प्रयोग होता है। स्वर्ण निर्मित *सोडना* किन्नौरी महिलाओं का कर्णाभूषण है। इसे किन्नौर की साधारण महिलाएँ धारण नहीं करतीं। इसे पूह गाँव के ऊपरी क्षेत्र की महिलाएँ पहनती हैं। इसमें फिरोज़ा लगा होता है। इसे महिलाएँ कान में छेद करके नहीं पहनतीं; बल्कि इनके ऊपरी भाग में बने हुक के माध्यम से इन्हें कान के ऊपर बालों में अटकाया जाता है।

खंडीच स्वर्ण अथवा रजत निर्मित छोटी बाली होती है, जो सामर्थ्य के अनुसार बनाई जाती है। प्राचीन समय में इन्हें धारण करने के लिए किन्नौरी महिलाएँ अपने दोनों कानों में आकार के अनुसार छह या इससे अधिक छेद करती थीं। वर्तमान में युवतियाँ इसे कम पहनती हैं। इसका वज़न अधिक से अधिक दो से तीन तोले तक होता है। *मुरकी* स्वर्ण निर्मित कर्णाभूषण है। इसे निचले किन्नौर की स्त्रियाँ धारण करती हैं। इसका वज़न कम से कम अठन्नी के बराबर होता है।

गाँवंत और *झुमकू* रजत निर्मित कर्णाभूषण हैं। *मूलमेन्थो* अथवा *मूल-उ* बालों से गले तक लटकता है। ऐसा लगता है कि यह भी कर्णाभूषण हो। इसमें कई चाँदी की पत्तियाँ लगी होती हैं, जो अंत में चाँदी के ही नक्काशीदार टुकड़े से जुड़ी होती हैं, जिसमें झालरें लटकती हैं। स्वर्ण निर्मित *गोगुलु* कर्णाभूषण है। इसका वज़न डेढ़ से दो तोले तक होता है। इसे पूह गाँव से निचले किन्नौर क्षेत्र तक स्त्रियाँ धारण करती हैं। रजत निर्मित कर्णाभूषण *मुलुंच* का वज़न पंद्रह से सोलह तोले तक होता है। मुलुंच अर्थात् रजत के फूल। इसमें पीपल की पत्तियों जैसी छोटी-छोटी बहुत सारी पत्तियाँ रजत की तारों में एक के ऊपर दूसरी अत्यंत आकर्षक ढंग से पिरोई होती हैं। इनके गुच्छों को महिलाएँ अपने दोनों कानों के ऊपर बालों में लटकाती हैं। पूह से ऊपरी क्षेत्र की महिलाएँ *कोनछुङ* नामक स्वर्ण अथवा रजत निर्मित कर्णाभूषण पहनती हैं। इनका वज़न दो तोले तक होता है। इनमें मूंगा, फिरोज़ा आदि पिरोए जाते हैं। ये काफी आकर्षक होती हैं। *खुल-कांटंई* और *कांटाई* (गुणजुंग) ऊपरी किन्नौर में किरात समुदाय में प्रचलित रजत निर्मित 10 से 15 ग्राम वज़न का कर्णाभूषण है। ये प्रायः आकार में बड़े और वज़न में भारी होते हैं।

जिन स्त्रियों ने कान नहीं छिदवाए होते, वह क्रम से कपड़े की कतरन पर

छह से आठ काँटे धारण करती हैं। वह कतरन बालों में इस तरह लगाई जाती है ताकि लगे कि ये काँटे कान के बोरों में लगाए गए हैं। जिन स्त्रियों ने कान छिदवाए होते हैं वे बड़े आकार के काँटे धारण करती हैं। *शेंडूशांकली* एक पारम्परिक कर्णाभूषण है, जिसमें जंजीर लगी होती है। इसके ऊपरी भाग को कान में धारण किया जाता है, जबकि जंजीर तेपांग से बाँधी जाती है। किन्नौर में किरात समुदाय के पुरुष केवल चाँदी अथवा स्वर्ण की बाली *लकसप* और बुजुर्ग छोटी वाली *मुरकी* कानों में धारण करते हैं। इसमें मीने का भी काम होता है।

स्वर्ण निर्मित नासाभूषण *लौंग* को किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में *फुलनाच* भी कहा जाता है। यह चवन्नी अथवा अठन्नी के वज़न का होता है। इसके मध्य में लाल अथवा नीला नग लगा होता है। स्वर्ण निर्मित *ब्लॉक* के नीचे झुमकू बने होते हैं। इसका वज़न अठन्नी के बराबर का होता है। *खुंडोच* भी ब्लॉक की तरह का स्वर्ण निर्मित नासाभूषण है। स्वर्ण निर्मित नासाभूषण 'बालू' का वज़न अधिक से अधिक दो तोले तक होता है। बालू बायीं तथा लौंग दायीं ओर नाक पर एक साथ धारण किए जाते हैं। *बलूक* आयताकार नासाभूषण है।

किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में महिलाओं द्वारा पहना जानेवाला रजत निर्मित *रीच* कंठाभूषण है। यह एक विशेष प्रकार की माला है। इसे किन्नौर के जंगराम क्षेत्र में रीच अर्थात् चिलगोजा इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें चाँदी में चिलगोजे का प्रतिरूप निर्मित करके माला तैयार की जाती है। इस कंठाभूषण में दो-तीन लड़ियाँ होती हैं, जिसमें रजत की विक्टोरिया काल की चवन्नियाँ-अठन्नियाँ भी पिरोई जाती हैं। *गउ-टुडा* एवं *छोस-टुडा* कंठाभूषण बौद्ध धर्म से सम्बंधित रक्षात्मक यंत्र होते हैं। यह छह तोले का होता है। किन्नौरी महिलाएँ इन्हें विशेष अवसरों पर धागे में पिरोकर धारण करती हैं। महिलाएँ सामान्यतः छोटे *गऊ-टुडा* एवं *छोस-टुडा* बनवाकर धारण करती हैं। इन्हें पुरुष भी धारण करते हैं। स्वर्ण निर्मित कंठाभूषण *त्रमोले ठोरच* को किन्नौर के कुछ भागों में *बिजलिया बोङ जङ* भी कहा जाता है। त्रमोले शब्द त्रिमणि का अपभ्रंश है। इसमें स्वर्ण निर्मित बड़े-बड़े तीन मनके एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। ऊपरी किन्नौर में जहाँ महिलाएँ इन्हें फिरोज़े की माला के मध्य में पिरोकर धारण करती हैं, वहीं निचले किन्नौर में इसे काले अथवा सफेद मोतियों के मध्य पिरोया जाता है। डेढ़ से तीन तोले वज़न वाले इस कंठाभूषण को सम्पूर्ण किन्नौर में धारण किया जाता है। कंठाभूषण *कोंठी* मूंगा, फिरोजा, रजत के छोटे-छोटे मनकों से बनी माला होती है। कोंठी (माला) में बीच-बीच में जी, पोशेल नामक रत्न भी पिरोये जाते हैं। इस कंठाभूषण को सम्पूर्ण किन्नौर में धारण किया जाता है। ऊपरी किन्नौर में कोंठी में फिरोज़ा, जी आदि की संख्या अधिक होती है और निचले किन्नौर में प्रायः मूंगे की सात-सात लड़ियाँ भी होती हैं।

किन्नौर के शुमछों, गोनयुल क्षेत्र की धनाढ्य महिलाएँ विशेष अवसरों पर *दोरोली* नामक कंठाभूषण धारण करती हैं। जङराम क्षेत्र में इसे 'मुल-पोटोक' अर्थात् रजत के मनके भी कहा जाता है। यह इक्कीस फेर (लड़ियों) में बनाई जाती है। इनमें चार लड़ियाँ मूंगे की होती हैं। इनके बाद रजत के छोटे-छोटे मनके होते हैं। मनकों के बीच-बीच में विक्टोरियन काल की चवन्नियाँ, अठन्नियाँ एवं रुपए पिरोये होते हैं। अंतिम दो लड़ियों में पोशल के बड़े-बड़े मनके पिरोये होते हैं। रजत निर्मित *पट्टे* किन्नौर के निचले क्षेत्र की महिलाओं द्वारा धारण किया जानेवाला कंठाभूषण है। रजत की बारीक तार में छोटे-छोटे मनकों को विशेष प्रकार से पिरोकर चार अंगुल के लगभग चौड़ा बनाया जाता है। इनका वज़न दस से बारह तोले होता है। किन्नौर के पूह गाँव के ऊपरी क्षेत्र की महिलाएँ *अलि* नामक कंठाभूषण धारण करती हैं। इसमें फिरोजा, रिंगनुमा रजत का टुकड़ा, मूंगा फिर फिरोज़ा, रिंगनुमा रजत को टुकड़ा, मूंगा इसी क्रम को बार-बार दोहरा कर यह कंठाभूषण तैयार किया जाता है। यह एकलड़ी कंठाभूषण है। इसे पुरुष भी धारण करते हैं।

शूलिग-छू नामक कंठाभूषण मूंगे से बना होता है। *कोन्थी* में मूंगा, फिरोजा और रजत के दानों को प्रयुक्त किया जाता है। *शोकपाटोक* कंठाभूषण के मध्य में स्वर्ण निर्मित दाने लगे होते हैं। ये दाने बीजाकार के होते हैं। *डोरोली* अथवा *चन्द्रसेनी-हार* विक्टोरियन सिक्कों से निर्मित लम्बा कंठाभूषण होता है। कई बार सिक्कों के मध्य मूंगा भी प्रयुक्त होता है। गद्दणों की भांति किन्नौरी महिलाएँ तृणमणि के दानों से निर्मित *पोशाल* नामक कंठाभूषण भी धारण करती हैं। रजत अथवा ताम्र निर्मित *मूलूगावो* अथवा *शतूंगमाला* एक प्रकार का तावीज है, जोकि कई आकारों में निर्मित होता है। इसे पुरुष और स्त्रियाँ दोनों धारण करते हैं।

चन्द्रमालंग कोन्थी एक कंठाभूषण है। इसमें मूंगा, फिरोजा के साथ विक्टोरियन सिक्कों को भी प्रयुक्त किया जाता है। *चन्द्रमालंग कोंथी* और *चंद्रसेनी-हार* एक से होते हैं। *कछोंग* रजत निर्मित गलबन्द है। *कंठामलंग* में बड़े आकार के स्वर्ण निर्मित दानों को प्रयुक्त किया जाता है। *कोशमाल* नामक लम्बा कंठाभूषण बड़े-बड़े रजत निर्मित दानों से बना होता है। *त्रि-मणि* छोटा हार होता है। जिस पर रजत निर्मित दानों, रजत की नक्काशीदार पट्टियों के मध्य तीन बीजाकार दाने लगे होते हैं। त्रिमणि में लगे रजत के दाने छोटे लेकिन वज़नदार होते हैं।

किन्नौर की महिलाओं में मणिबंध या कलाई के आभूषणों में *दगलो* प्रमुख है। रजत निर्मित मोटे-मोटे कड़े काफी वज़नदार होते हैं। दो जोड़े दगलो का वज़न सौ तोले के लगभग होता है। यह आभूषण दोनों बाजुओं में जोड़े में होता है और अकेले भी पहना जाता है। पूह के ऊपरी भागों में इन्हें दू कहते हैं। कुंवारी कन्या

एक दगलो और विवाहित जोड़ी धारण करती है। रजत निर्मित *टोकोचस* कलाई का आभूषण है। यह अकेला होता है। इसके बाह्य भाग पर छोटे-छोटे काँटे उभरे होते हैं। इनका वज़न सोलह तोले तक होता है। *पटङ* कलाई का आभूषण है। दोनों कलाइयों में एक-एक पटङ अर्थात् पट्टे धारण किए जाते हैं। यह छह से सात तोले के होते हैं। किन्नौर में अंगूठी को *लसथप* कहा जाता है। यह रजत निर्मित होती है। इसके मध्य में फिरोजा या नीलम जड़ा होता है। इसे महिलाएँ और पुरुष दोनों धारण करते हैं। किन्नौर में छोटे-छोटे बच्चों को *दगलोच* नामक छोटा कड़ा पहनाया जाता है। दगलोच मामा अथवा मासी द्वारा बच्चे को पहनाया जाता है। शरीर के निम्न भाग के लिए *बोरिंगू शंगलिग* नामक रजत निर्मित जंजीर होती है, जो कमर के इर्द-गिर्द धारण की जाती है। *लकशप* अथवा *कंगण* स्वर्ण और रजत निर्मित अंगूठियाँ होती हैं, जिनमें फिरोजा अथवा मूंगा लगा होता है। पैरों की अंगुलियों के लिए *पोलरी* नामक रजत निर्मित छल्ले होते हैं।

किन्नौर में कुछ आभूषण वस्त्रों पर भी लगाए जाते हैं। रजत निर्मित *अङ्कुश* शरीर पर ओढ़े जानेवाली चद्दर के दोनों किनारों को परस्पर जोड़े रखने के काम आनेवाला आभूषण है। इसके दोनों तरफ हुक होते हैं। अङ्कुश के मध्य में फिरोजा जड़ा होता है। किन्नौर के ऊपरी क्षेत्रों में इसे *दिगरा* कहा जाता है। इसका वज़न पाँच से छह तोले होता है। रजत निर्मित *पिचुक* महिलाओं द्वारा दोहरी (दोहड़ू) को कसने के काम आनेवाला आभूषण है। यह गोल होता है। इसके मध्य में फिरोजा जड़ा होता है। इसका वज़न नौ से दस तोले होता है। रजत निर्मित जंजीर *शङलङ* को कुछ क्षेत्रों में *बोरिङ शङ लङ* भी कहते हैं। इन जंजीरों की संख्या कम से कम चार होती है। दस सेंटीमीटर लम्बी यह जंजीर रजत के हुक के साथ दोनों तरफ लगी होती है। इनका वज़न कम से कम सोलह तोले होता है। जंजीरों का एक भाग अङ्कुश में और दूसरा पिचुक में फंसाया जाता है। अङ्कुश और पिचुक पहनने के पश्चात् ये जंजीरे दोहरी हो जाती हैं। इन दोहरी जंजीरों के निचले किनारों को महिलाएँ अपनी कमर की गाची में ठूसती हैं।

लाहुल-स्पीति के आभूषण

लाहुल-स्पीति की किरात महिलाएँ मूंगा, फिरोजा, तृणमणि, नीलम एवं मोती इत्यादि रत्नों से जड़ित आभूषण चाव से पहनती हैं। *भवारक* इस क्षेत्र की विवाहित महिलाओं का पारम्परिक शिरोभूषण है। इसमें माथे से बालों तक वस्त्र की लाल पट्टी पर फिरोज़ा, नीलम, रजत के ताबीज़ इत्यादि जड़े होते हैं, जिस पर सूर्य अर्द्धचन्द्र इत्यादि अंकित होते हैं। *बेरग* विवाहित स्त्रियों का एक अन्य शिरोभूषण है। इसमें भी वस्त्र की पट्टी पर फिरोज़ा, शीशा, रजत के ताबीज़ लगे होते हैं। बेरग की रजत निर्मित जंजीरें सिर के इर्द-गिर्द बाँधी जाती हैं, जो कानों तक लटकती हैं।

इसके अतिरिक्त महिलाएँ काले यॉक के बालों से निर्मित *परक* नामक शिरोभूषण धारण करती हैं, जिस पर फिरोज़ा लगा होता है। ड्रोकपा समुदाय में नवविवाहिता को माँ की तरफ से परक उपहार में दिया जाता है। अविवाहित स्त्रियाँ एक फिरोज़ा लगा *थियूल* नामक आभूषण धारण करती हैं। *चिमकुट* जंजीरनुमा है, जिसमें छोटी घंटियाँ और मोती लगे होते हैं।

कंठाभूषणों में *उल्टिक* नामक हार प्रमुख है, जिसमें फिरोज़ा, मूंगा इत्यादि जड़े होते हैं। स्त्री एक समय में विभिन्न प्रकार के कई उल्टिक धारण कर सकती हैं। त्योहार के समय में स्त्रियाँ मूंगे की लड़ियों से बना हार धारण करती हैं।

कर्णाभूषणों में महिलाएँ *कोंटा* धारण करती हैं। इसमें छोटी बालियाँ, झुमके के साथ लगी होती हैं। यह प्रायः रजत एवं पीतल से बनी होती है। *खुल-कांटेई, शेड्रशांकली* और *कांटाई (गुणजुंग)* लाहुल में किरात समुदाय में प्रचलित रजत निर्मित 10 से 15 ग्राम वज़न के कर्णाभूषण हैं। *तरका* लाहुल क्षेत्र में प्रचलित 30 ग्राम वज़न का कर्णाभूषण है। स्पीति में प्रचलित रजत निर्मित झालरदार *बाली* का वज़न लगभग 70 ग्राम होता है। यहाँ की बालियों पर लद्दाख और तिब्बत क्षेत्र का प्रभाव झलकता है। यहाँ की महिलाएँ नासाभूषण नहीं पहनतीं।

मणिबंध या कलाई में धारण किए जानेवाले आभूषणों में *धूंगल्क* अथवा *तूमल्क* प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त महिलाएँ *डौ* नामक चूड़ियाँ धारण करती हैं और नग लगी रजत की अंगूठी *सुरनदूप* पहनती हैं। कटिबंध में महिलाएँ रजत निर्मित पिछुन धारण करती हैं और शाल पर चाँदी की *डिकरा* नामक पिन लगाती हैं। कई बार डिकरा के साथ जंजीर भी लगी होती है।

यहाँ के पुरुष आभूषणों के शौकीन होते हैं। वह कानों में फिरोज़ा और तृणमणि जड़ित रजत निर्मित *गकलौंग* (बालियाँ) पहनते हैं। वह फिरोजा, मूंगा, तृणमणि और मोतियों जड़ित माला *उल्टिक* भी चाव से पहनते हैं। कई लोग रजत निर्मित पैंडल का हार पहनते हैं, जिसमें मूंगा और फिरोज़ा लगा होता है। इस हार को *घेई* कहते हैं। पुरुष दायीं बाजू में रजत की *डौ* नामक चूड़ी और रजत निर्मित *सुरनदूप* अंगूठी भी धारण करते हैं।

लाहुल को खश महिलाएँ काफी शिरोभूषण धारण करती हैं। इनमें रजत निर्मित महीन टुकड़ियों, बाल में पिरोई जानेवाली आयताकार को थून्कारी अथवा डूंगकरी कहा जाता है। थून्कारी के नीचे रजत अथवा पीतल के छोटे दाने लगे होते हैं। *किर-किरत* थालीनुमा रजत निर्मित शिरोभूषण भी धारण करते हैं, जिसमें फिरोजा लगा होता है। रजत अथवा स्वर्ण निर्मित *किकितसी* कपनुमा शिरोभूषण दो क्लिप की सहायता से धारण किया जाता है। रजत निर्मित• *तारका* बालों को अपने स्थान पर सही रखने के लिए क्लिप का कार्य करता है। *पोशाल* तृणमणि

के दानों से बनता है, जिसे स्थानीय भाषा में कपूर कहते हैं। यह माथे पर धारण किया जाता है। रजत निर्मित *फान* सिर पर पोशाल के साथ धारण किया जाता है। *बेरग* दारछा क्षेत्र में कई महिलाओं द्वारा धारण किया जाता है। लाहुली बेरग लगभग स्पीति की किरात महिलाओं की तरह ही होता है। *यूतांड* लाहुल की बौद्ध महिलाओं का दुर्लभ शिरोभूषण है। लेकिन विधवाएँ इसे धारण नहीं करतीं। यह दस सेंटीमीटर लम्बी टोपी होती है। यह सूती कपड़े से बनी होती है। इस पर सुनहरी अथवा ज़री की चार पट्टियाँ होती हैं, जिनके मध्य फिरोज़े के दाने लगे होते हैं। आगे की तरफ चाँदी के चन्द्र अथवा सूर्य के चिह्न बने होते हैं। इसके साथ रजत के दाने लगे होते हैं। जब टोपी पहनी जाती है तो ये जंजीरें माथे पर लटकती हैं।

कर्णाभूषणों में लाहुली स्त्रियाँ *लोंग* पहनती हैं। इसमें सफेद अथवा रंगीन नग लगे ये आभूषण स्वर्ण अथवा पीतल के होते हैं। इसके अतिरिक्त महिलाएँ *क्यांति* नामक स्वर्ण निर्मित छोटे कर्णाभूषण भी धारण करती हैं। नासाभूषणों में *छोटी फुली* और *बड़ी फुली* पहनती हैं। छोटी फुली स्वर्ण निर्मित होती है। बड़ी फुली विवाहित महिलाएँ नाक में बायीं ओर धारण करती हैं; लेकिन विधवा महिलाएँ इसे धारण नहीं कर सकतीं।

कंठाभूषण में स्त्रियाँ *मुतिग-कांति,* जो कि सफेद मोतियों की माला होती है, पहनती हैं। इनके साथ फिरोज़ा और मूंगा लगा होता है। मध्य में स्वर्ण निर्मित तारानुमा पैंडल होता है, जिस पर नग लगे होते हैं। विधवाएँ इसे धारण नहीं करतीं। *दुग-कांति* अथवा *तुग-कांति* मूंगे के दानों से बना हार होता है, जिसमें मध्य में पैंडल पर नग लगे होते हैं। *शामशाम* पाँच अथवा सात जंजीर वाला कंठाभूषण है, जिसमें नग लगे होते हैं। *छहू* नामक पैंडल हर जंजीर के साथ लगा होता है।

मणिबंध या कलाई में धारण किए जानेवाले आभूषणों में रजत निर्मित *नानगत्सी* आता है। *ननग* भी रजत निर्मित चूड़ी की जोड़ी होती है। अंगुलियों में स्वर्ण अथवा रजत निर्मित *गुईठाह* पहनी जाती है, जिस पर नग लगे होते हैं। कटिबंध में *दूनकेरत्सा, फुलनू* और *शुब* धारण किए जाते हैं। रजत निर्मित दूनकेरत्सा में विभिन्न आकार के नग लगे होते हैं। यह बौद्ध महिलाओं द्वारा धारण किया जाता है, जबकि फुलनू रजत की जंजीर होती है। इस पर नग जड़े होते हैं। फुलनू को दूनकेरत्सा से जोड़ा जाता है। *शुब* चाँदी का बटुआ होता है।

पुरुष स्वर्ण निर्मित अंगूठी धारण करते हैं। इन्हें *मुरकीस* कहा जाता है। स्वर्ण अथवा रजत निर्मित गुईथाह एक अन्य प्रकार की अंगूठी है, जिस पर लाल रंग का नग लगा होता है। पुराने समय में लाहुल में पुरुष स्वर्ण निर्मित *कियान्ती* नामक बाली भी धारण करते थे।

कुल्लू के आभूषण

कुल्लूवी महिलाएँ *चॉक, क्लिप* और *जुट्टू* पहनती हैं। चॉक गुम्बदनुमा, प्याले की भांति होता है और बौद्ध स्तूप की तरह दिखता है, जो औंधे ढंग से चोटी के बिल्कुल मध्य एक जंजीर के साथ बालों के सहारे पहना जाता है। यह प्रायः स्वर्ण और रजत का बना होता है। रजत निर्मित क्लिप से बालों को सहेजा जाता है। रजत अथवा स्वर्ण निर्मित *जुट्टू* छोटी तश्तरीनुमा शिरोभूषण होता है। कई बार इसके साथ चाँदी के दानों के साथ जंजीर भी लगी होती हैं।

कर्णाभूषण में कुल्लूवी महिलाएँ *डाण्डी, कनफूल, ब्रागर* और *काँटे* धारण करती हैं। *डाण्डी* बड़े आकार का स्वर्ण अथवा रजत निर्मित कर्णाभूषण है, जिसमें उन्हीं धातुओं के दाने लगे होते हैं। कनफूल फूल की आकृति वाला कर्णाभूषण है, जिसमें नग लगे होते हैं। ब्रागर एक भारी कर्णाभूषण है, जिसमें रत्न और नग लगे होते हैं। स्वर्ण अथवा रजत निर्मित काँटे में छोटे नग लगे होते हैं। *ढूलकुणू* कुल्लू क्षेत्र में धारण की जानेवाली स्वर्ण निर्मित बाली है, जिसका वज़न लगभग 15 ग्राम होता है। इसमें लाल और हरे नग लगे होते हैं। बबूल के बीज की तरह दिखनेवाला गोखरू मुख्यतः कुल्लू में बहुप्रचलित कर्णाभूषण है। स्वर्ण निर्मित इस आभूषण का वज़न प्रायः 9 ग्राम होता है।

नासाभूषण में कुल्लूवी महिलाएँ *बुलाक, बेसर* अथवा *बालू, कंडू* और लौंग पहनती हैं। बुलाक अथवा ब्लाक पीपल के पत्ते के आकार का आभूषण है, जो ओठों के आगे लटकता है। इसके मध्य में लाल नग लगा होता है। यह सुहाग की निशानी मानी जाती है। निर्धन महिलाएँ बालू के स्थान पर कंडू पहनती हैं। बेसर अथवा बालू भारी नासाभूषण है, जो नाक पर बायीं ओर धारण किया जाता है। जंजीर का एक सिरा बेसर से जुड़ा होता है और दूसरा छोर बालों के साथ लगाया जाता है। यह स्वर्ण अथवा रजत का बनाया जाता है। यह भी सुहाग की निशानी माना जाता है। लौंग बड़े आकार का स्वर्ण निर्मित नासाभूषण है। इसकी ऊपरी सतह पर दानेदार कार्य किया होता है। कई बार मध्य में लाल नग लगाया जाता है। इसे भी सुहाग की निशानी के रूप में बेसर के स्थान पर नाक में बायीं ओर धारण किया जाता है।

कंठाभूषण में कुल्लूवी महिलाएँ *चम्पकली, हार, छाताहार, कंठी* और *डोडमाला* धारण करती हैं। चम्पकली रजत की बारीक तीलियों का बना एक तोले का हार होता है, जो चम्पा के फूल जैसा दिखता है। इसमें रजत निर्मित चम्पक की आकृति के टुकड़े एक माला के रूप में पिरोए होते हैं, जो बाहर को लटकते हैं। इनके मध्य में शीशे के टुकड़े अथवा मोती लगाए जाते हैं। कई बार इन टुकड़ों के साथ रजत के ही छोटे दाने लटकाए जाते हैं। हार के मध्य में स्वर्ण अथवा रजत निर्मित बारीक पीपल का पत्ता होता है। *छाताहार* रजत के सिक्कों से निर्मित लम्बा

कंठाभूषण होता है। यह रुपए के हार के नाम से भी जाना जाता है। *कंठी* स्वर्ण अथवा रजत निर्मित कंठाभूषण है। *डोडमाला* कुल्लूवी महिलाओं का प्रमुख आभूषण है, जिसमें रीठे के आकार के बने चाँदी के दानों को माला के रूप में पिरोया जाता है। इसका वज़न चार से पाँच तोले का होता है।

मणिबंध या कलाई में धारण किए जानेवाले आभूषणों में *बाजूबंद* रजत की चद्दर से निर्मित होता है। *चूड़ा* भी रजत निर्मित होता है। *मरीदड़ी* स्वर्ण अथवा रजत से निर्मित चूड़ी होती है। *गोखरू* गोल मोटी रजत की छड़ से बनाया जाता है। इसमें अन्त में पशु मुख की आकृति बनी होती है। रजत निर्मित *टोका* चौड़ा और भारी होता है। इस पर कई डिज़ाइन बनाए गए होते हैं।

हस्ताभूषण में *अंगूठी, छल्ला* और *मुण्डाली* आते हैं। मुण्डाली नामक अंगूठी में नग लगा होता है। कुल्लूवी पुरुष वैसे तो कोई आभूषण धारण नहीं करते, लेकिन बुज़ुर्ग *मुरकी* नामक स्वर्ण निर्मित छोटा कर्णाभूषण पहनते हैं।

बुशहरी आभूषण

बुशहरी महिलाओं के शिरोभूषण में *चौक* गुम्बदनुमा, प्याले की भांति होता है। यह रजत एवं स्वर्ण निर्मित होता है। बुशहर में यह तीन आकारों *सादा चौक, उच्चा चौक* और *झालरदार चौक* में मिलता है। झालरवाले चौक में छोटी जंजीरें अर्थात् झालरों के साथ रजत के दाने लगे होते हैं। चौंक का व्यास 8 सेंटीमीटर और ऊँचाई पाँच से दस सेंटीमीटर होती है। इस आभूषण का भार औसतन आधे तोले से डेढ़ तोले तक होता है। *डोरा* रजत का जालीदार आभूषण माथे पर धारण किया जाता है। रजत निर्मित *क्लिप* बालों को यथा स्थान रखता है। कर्णाभूषण में बुशहरी महिलाओं का मुख्य आभूषण *कुण्डी* है। यह स्वर्ण निर्मित छोटा कर्णाभूषण है। इसके अतिरिक्त रजत और स्वर्ण निर्मित काँटे होते हैं।

नासाभूषण में *बालू* स्वर्ण निर्मित होता है। *तिल्ली* विवाहित महिलाओं द्वारा रोज़मर्रा के उपयोग के लिए धारण की जाती है। कुण्डी साधारण नासाभूषण है, जोकि विवाहित महिलाओं के द्वारा नाक के मध्य में पहना जाता है। कंठाभूषण में बुशहरी महिलाएँ *कण्ठी, कच, डोरा* और *चंद्रहार* धारण करती हैं। कण्ठी स्वर्ण, रजत और पीतल की होती है। कच में एक से अधिक स्वर्ण अथवा रजत के दोनों की मालाएँ होती हैं। ये तिकोने धातु के टुकड़े से जुड़ी होती है। डोरा विक्टोरियन रुपयों और नगों से निर्मित लम्बा कंठाभूषण है, जबकि चंद्रहार स्वर्ण और रजत का बना हुआ आकर्षक डिज़ाइन वाला भारी कंठाभूषण है।

कलाई में धारण किए जानेवाले आभूषणों में *कंगणू* और *चूड़ियाँ* आती हैं। कंगणू चौड़ी रजत की चद्दर के बनाए जाते हैं, जिनके साथ छोटे रजत के दाने भी लगे होते हैं। बुशहरी पुरुष कोई भी आभूषण धारण नहीं करते।

महासू व सिरमौर के आभूषण

महासू जिला शिमला व सोलन और सिरमौर की महिलाओं के शिरोभूषण में रजत निर्मित *चौक* गुम्बदनुमा प्याले की भांति होता है। जोंनसार-बाबर क्षेत्र में इसे *सनूतिया* कहा जाता है। बुशहर क्षेत्र की तरह *डोरा* माथे पर धारण की जानेवाली रजत निर्मित पट्टी होती है। यह शिमला क्षेत्र में धाटू के नीचे बालों में लगाई जाती है। डोरे को जोंनसार-बाबर क्षेत्र में *उतरेया* कहा जाता है। महासू में *पोपलाछे* रजत की एक जोड़ी पट्टी है, जिसमें जंजीरें लगी होती हैं। यह चौक से जुड़ी होती है। *शीशफूल* नामक रजत निर्मित पुष्पनुमा शिरोभूषण माथे पर धारण किया जाता है। *जूण्टी* रजत निर्मित भारी एवं आकर्षक शिरोभूषण है। कई बार जूण्टी के साथ रजत के छोटे दाने लगे होते हैं। यह शिरोभूषण शिमला क्षेत्र में पाया जाता है। *लिंजू* शिमला क्षेत्र में प्रयुक्त होनेवाला दूसरा शिरोभूषण है। यह लम्बा शिरोभूषण सिर पर धारण किया जाता है, जोकि कानों तक फैला होता है।

कर्णाभूषणों में *कंताली, मूंगड़ी* और *कोडोलू* केवल शिमला क्षेत्र में महिलाओं द्वारा धारण किए जाते हैं, जबकि *मुरकी* शिमला और जोंनसार-बाबर क्षेत्र में प्रयुक्त होती है। *काँटे* और *दरोटू* शिमला एवं गिरी क्षेत्र में पहने जाते हैं। *दरोटू* मुख्यतः शिमला और ठियोग क्षेत्र में प्रचलित ब्राह्मण एवं राजपूत महिलाओं द्वारा धारण किया जानेवाला 30 से 40 ग्राम वज़न का कर्णाभूषण है। *उपराली* गिरी क्षेत्र की महिलाओं का कर्णाभूषण है। यह रजत निर्मित भारी आभूषण है, जिसमें मोती के दाने पिरोये होते हैं। स्वर्ण अथवा रजत निर्मित *कंताली* आकर्षक कर्णाभूषण है, जबकि *मूंगड़ी* पारम्परिक कर्णाभूषण है। यह महीन गोलाकार कुंज की भांति होता है। स्वर्ण अथवा रजत निर्मित इस आभूषण को बुज़ुर्ग महिलाएँ ही पहनती हैं। बबूल के बीज की तरह दिखनेवाला *गोखरू* मुख्यतः शिमला में प्रचलित है। स्वर्ण निर्मित इस कर्णाभूषण का वज़न प्रायः 9 ग्राम होता है। *कोडोलू* युवतियों द्वारा धारण किया जानेवाला कम वज़न का कर्णाभूषण है। मुरकी मूंगड़ी के स्थान पर धारण किया जाता है। *मुंडरन* कर्णाभूषण 30 ग्राम का होता है। *कनबाले* (मीना बाली) भी शिमला क्षेत्र का प्रचलित कर्णाभूषण है। इस क्षेत्र में *ब्रागर* को दुल्हन विवाह के समय धारण करती है। मुरकी शिमला के पूर्वी क्षेत्र और किन्नौर से कल्पा तक प्रचलित स्वर्ण और रजत निर्मित कर्णाभूषण है। इसका वज़न 24 से 50 ग्राम तक होता है। इसमें हरे और नीले रंग के मीने का प्रयोग किया जाता है।

नासाभूषणों में *नथ* इस क्षेत्र का साधारण आभूषण है। स्वर्ण निर्मित यह आभूषण कई आकारों और डिज़ाइनों में मिलता है। यह नाक पर बायीं ओर जंजीर

के साथ धारण किया जाता है। जंजीर का दूसरा छोर बालों के साथ लगाया जाता है। *बालू* एवं *फूली* शिमला और जोंनसार-बाबर क्षेत्र में और लौंग गिरी क्षेत्र में काफी प्रचलित है। अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी स्वर्ण निर्मित बालू का अलग डिज़ाइन होता है। फूली हल्के वज़न का स्वर्ण निर्मित नासाभूषण है, जबकि लौंग बड़े आकार का होता है, जिसकी ऊपरी सतह पर दानेदार काम होता है।

कंठाभूषणों में महासूवी महिलाएँ *कण्ठी* अथवा *कण्डी* धारण करती हैं। यह रजत के दानों से निर्मित पट्टी होती है। इसे गिरी क्षेत्र में *हँसली* और जोंनसार-बाबर क्षेत्र में *कण्डूरी* कहा जाता है। शिमला में गले से चिपके इस कंठाभूषण को *खेगवाली* कहा जाता है। रजत निर्मित *ताबीत* पर देवता की आकृति अंकित होती है। यह गिरी क्षेत्र में धारण किया जाता है। जोंनसार-बाबर क्षेत्र में इसे *ताबील* कहा जाता है। शिमला क्षेत्र में धारण किया जानेवाला रजत निर्मित *काच्छ* कंठाभूषण है। चंद्रहार की भांति शिमला क्षेत्र में *चंद्रसेनी* हार भी धारण किया जाता है। शिमला का स्वर्ण अथवा रजत निर्मित *जुगनू* छोटा कंठाभूषण है, जिस पर कई रंगों के नग लगे होते हैं। *तंदानू* विक्टोरियन रुपयों से निर्मित कंठाभूषण है।

कलाई में धारण किए जानेवाले आभूषणों में *धागलू* आता है। यह शिमला और जोंनसार-बाबर क्षेत्र में पहना जाता है। रजत की भारी छड़ को चूड़ी का आकार दिया जाता है, जिसे गिरी क्षेत्र में *बाट* कहते हैं। इसके अंत में दोनों ओर सिंह का मुख लगा होता है। गिरी क्षेत्र में ही रजत निर्मित चूड़ी भी धारण की जाती है। अंगुली में धारण किए जानेवाले आभूषण को शिमला में *गूठी* और गिरी क्षेत्र में *छाप* कहा जाता है। चम्बा की भांति शिमला में भी *आरसी* को धारण किया जाता है। इसमें छोटा दर्पण लगा होता है।

महासूवी पुरुष कोई भी आभूषण धारण नहीं करते। लेकिन जोंनसार-बाबर क्षेत्र में पुरुष कंठाभूषण में *कंठा* और अंगुली में *कनगूठा* धारण करते हैं।

इस प्रकार आबेध्य, बंधनीय, आरोप्य और प्रक्षेप्य अलंकारों के अंतर्गत मस्तक, कर्ण, नासिका, कंठ, बाहु, मणिबंध, हस्त, कटि एवं पाद-गुल्फ में धारण किए जानेवाले आभूषणों से मंडित नारी के जो रूप काव्यों में चित्रित हुए हैं, वे सब हिमाचली आभूषणों में लक्षित होते हैं।

संदर्भ

1. भामहकृत काव्यालंकार 1/13
2. डा. राय गोविंद चंद्र, वैदिक युग के भारतीय आभूषण, पृ. 1-2

हिमाचल की पारम्परिक वस्त्र कला

डॉ. पंकज ललित

कला मानव संस्कृति का साकार पक्ष है। यह मानव के श्रेष्ठ संस्कारों का प्रतिफल है। प्राचीन काल से हमारे मनीषियों ने कलाओं की संख्या चौंसठ मानी है। कहीं-कहीं यह संख्या चौरासी अथवा बहत्तर भी बताई गई है। यदि यह संख्या चौंसठ भी मान ली जाए तो भी मानव जीवन के अधिकांश कार्य कलाओं के अर्न्तगत गिने जा सकते हैं। जीवन को सुसंस्कृत बनाने तथा सौन्दर्य प्रदान करने के उद्देश्य से जो भी कृत्य आवश्यक समझे जाते हैं, वे कला के अंग माने गए हैं। भारतीय कलाओं में सुन्दर रंगीन कपड़ा बनाने की कला को सबसे पुरातन कलाओं में से एक माना गया है। यह कहना कठिन है कि कताई व बुनाई की कला किस काल व समय विशेष में प्रारम्भ हुई। परन्तु वेद, पुराण, उपनिषद् रामायण, महाभारत व मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में लोगों द्वारा प्रयोग में लाए जा रहे वस्त्रों व परिधानों के बारे में व्यापक उल्लेख है। हड़प्पा व मोहन-जोदड़ो की खुदाई में मिले अवशेषों से यह स्पष्ट पता चलता है कि 5000 वर्ष पूर्व जीवन यापन कर रहे लोगों में कताई व बुनाई लोकप्रिय थी। इन स्थलों पर सूती कपड़े व खड्डियों में प्रयुक्त होने वाले उपकरण मिले हैं। विश्व में भारत संभवतः बुनाई कला में पारंगत देशों में अग्रणी था।

बुनाई की कला व वस्त्रों की रंगाई पुरातन काल में मनुष्य जीवन का इतना महत्त्वपूर्ण हिस्सा थी कि इसी की कई तकनीकों के आधार पर दर्शन व धार्मिक चिन्तन का नामकरण हुआ। पुरातन बौद्ध ग्रन्थ सूत्र का नाम 'सुत' यानि धागा अथवा 'साथ जोड़ने' के आधार पर पड़ा। 'ग्रन्थ' शब्द भी वस्त्रों से जुड़ी 'साथ बुनने' की भाषा के आधार पर ही बना है।

हिमालय मानवता का पालनहार व पुरातन कला और संस्कृति का खज़ाना है। यहाँ विकसित विभिन्न कलाओं की हिमाचल में व्यापक झलक मिलती है। हिमाचल प्रदेश के अनूठे हस्तशिल्प उत्पाद यहाँ के लोगों की सृजनात्मकता को

प्रदर्शित करते हैं। चाहे काष्ठ-कला हो या हथकरघा उत्पाद अथवा हाथ की कढ़ाई से निर्मित चम्वा रुमाल; या फिर चम्बा की चर्म-कला या कांगड़ा की चित्रशैली हो—ये सब शिल्प-कलाएँ जीवन को सुंदर बनाती हैं।

हिमाचल की वस्त्र कला को मुख्यतया दो अलग-अलग श्रेणियों में रखा जा सकता है। कढ़ाई युक्त वस्त्र कला व ऊनी बुनाई कला। इन दोनों प्रकार के वस्त्रों को सामान्यतया व्यक्तिगत उपयोग हेतु अथवा विशेष अवसरों के लिए बनाया जाता है। परन्तु अब प्रदेश में पर्यटन का विकास होने से, खासकर बुने हुए उत्पादों को, व्यवसायिक दृष्टि से भी तैयार किया जाने लगा है।

हिमाचल प्रदेश को भौगोलिक तथा सांस्कृतिक आधार पर मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला, शिवालिक की पहाड़ियों से सटा तराई क्षेत्र है, जो अधिकांशतः समतल है तथा प्रदेश को देश के मुख्य मैदानी भाग से जोड़ता है। इस क्षेत्र में सिरमौर, कांगड़ा, ऊना, हमीरपुर, मंडी, बिलासपुर तथा सोलन जिले आते हैं। दूसरा, प्रदेश का पर्वतीय क्षेत्र है, जहाँ के लोग पारम्परिक रूप से ऊन संस्कृति का हिस्सा हैं। यहाँ के लोगों द्वारा सम्पूर्ण वर्ष ऊनी वस्त्रों का उपयोग किया जाता है। इनमें गद्दी व गुज्जर दो अपवाद हैं, जो मूलतः सूती संस्कृति का हिस्सा रहे हैं। ये परम्परागत घुमन्तू जातियाँ हैं, जो भारत के मैदानों से विभिन्न दबावों के कारण हिमालय के भीतरी भाग में आकर बसी हैं तथा अब यहाँ के सामाजिक व सांस्कृतिक परिदृश्य का अटूट हिस्सा बन गई हैं।

एक ओर जहाँ हिमालय के भीतरी भागों में सिले व अनसिले ऊनी वस्त्रों का प्रयोग आरम्भ हुआ, वहीं दूसरी ओर शिवालिक के आसपास के क्षेत्र में सूती व रेशमी वस्त्रों का प्रयोग प्रचलन में आया । यहाँ मुख्यतः अनसिले सूती वस्त्र जैसे धोती, उत्तरसंग व कमरबन्द पुरुषों के लिए तथा कमरबन्द व पटका के साथ साड़ी स्त्रियों द्वारा उपयोग में लाई जाने लगी । इसका प्रमाण शिवालिक क्षेत्र में मन्दिरों में स्थापित पत्थरों की मूर्तियों से मिलता है । चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग ने भी अपने संस्मरणों में सातवीं सदी में इस क्षेत्र में प्रचलित वस्त्रों का वर्णन किया है।

हिमाचल प्रदेश की महिलाओं ने वस्त्रों पर कढ़ाई कला की एक विशिष्ट परम्परा विकसित की है, जो यहाँ की पुष्ट सांस्कृतिक विरासत को प्रतिबिम्बित करती है। यह कढ़ाई अपनी सुन्दरता में उतनी ही विविधता लिए हुए है, जैसी यहाँ के प्राकृतिक परिदृश्य में है, जहाँ से इसने अपने रंग व डिज़ाइन लिए हैं। चम्बा, कांगड़ा, मण्डी, कुल्लू, बसोहली, कहलूर, सुकेत व सिरमौर के स्वतंत्रता पूर्व के पहाड़ी राज्य अपनी कढ़ाई युक्त वस्त्र कला के लिए विख्यात थे। जाति अथवा समुदाय भेद के बिना इन क्षेत्रों के गाँवों की महिलाएँ कढ़ाई करती थीं। रूमालों, चोलियों, गौमुखी, ध्वज आदि पर कढ़ाई करने का प्रचलन था।

हिमाचल प्रदेश के सूती वस्त्रों पर हुई कलाकारी का एक मुख्य उदाहरण चम्बा रूमाल है। जिस प्रकार पहाड़ी चित्रकला के लिए सामान्य नाम कांगड़ा चित्रकला हो गया, उसी प्रकार रूमाल 'चम्बा रूमाल' के नाम से ही जाना गया। इन रूमालों का क्षेत्र चम्बा तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि ये चम्बा के अतिरिक्त कांगड़ा, मण्डी, बिलासपुर, कुल्लू, बसोहली आदि क्षेत्रों में भी बनने लगे हैं। चम्बा में इन कलात्मक रूमालों की परम्परा अब तक है, जो सरकारी प्रयासों से भी पुर्नजीवित हो रही है। एक अनुमान के अनुसार चम्बा में रूमालों की इस परम्परा का आरम्भ 1782 ई. से 1828 ई. के बीच में कभी हुआ। राजा उमेद सिंह के 1748-64 ई. में चम्बा की गद्दी पर बैठने के दौरान वहाँ कलाओं को बल मिला, जिसे उनके पुत्र राज सिंह (1764-94 ई.) व प्रपोत्र जीत सिंह (1794-1808 ई.) ने भी जारी रखा। यह सम्भव है कि उसी दौरान चम्बा रूमाल कला की शुरुआत हुई होगी।

चम्बा रूमाल सामान्यतः वर्गाकार में ही मिलते हैं, लेकिन लम्बाई में अधिक तथा चौड़ाई में कम रूमाल भी सहज ही देखे जा सकते हैं। जिस कपड़े पर यह कशीदाकारी होती थी, वह रेशमी या सूती कोई भी हो सकता था। कपड़ों का उस समय अभाव था। इसलिए ऐसे भी रूमाल बने, जिनका कपड़ा तो साधारण नज़र आता है, लेकिन उस पर हुई कशीदाकारी अत्यंत कलापूर्ण है। इस कशीदाकारी में जिन रंगीन धागों का उपयोग होता था, वे साधारण साटिन के, बिना बटे हुए धागे थे। कपड़ा व धागा दोनों ही हथकरघा उत्पाद होते थे। अधिकांश कपड़ा सफेद या लाल रंग में होता था। लाल रंग के इस कपड़े को स्थानीय बोली में *हलवाण* कहा जाता था। पुराने पहाड़ी रूमालों की एक बड़ी विशेषता उनका दोहरा टांका था, जिससे कपड़े के दोनों ओर एक-सी कढ़ाई या कशीदा देखने को मिलता है। उसमें उल्टा-सीधा का फर्क नहीं था और दोनों ओर से इसका प्रयोग किया जा सकता था।

यह दोहरा टांका आज भी कश्मीरी कढ़ाई की विशेषता के रूप में देखा जा सकता है। इकहरे टांके का प्रचलन भी रहा है। ऐसे वस्त्र जिन पर इकहरे रंग का प्रयोग होता था, उनके पीछे किसी रंगीन अथवा मोटे कपड़े का अस्तर लगा दिया जाता था, ताकि इकहरे टांके की उल्टी सिलाई न दिखाई पड़े। रूमालों पर कशीदाकारी का कार्य सामान्यतः महिलाओं द्वारा ही किया जाता था। इन पर कृष्ण-लीला, रास लीला, राग-रागनियाँ तथा अन्य पौराणिक विषयों का चित्रण किया जाता था। रास-लीला का अंकन रूमालों पर सबसे अधिक हुआ है। जिन रंगीन धागों का कढ़ाई में प्रयोग होता था, उन्हें रंगने का काम भी स्त्रियाँ स्वयं ही करती थीं।

प्रदेश के ऊना, हमीरपुर, बिलासपुर जिलों और सिरमौर व सोलन जिलों के कुछ हिस्सों में कपास उगाई जाती थी, जिसका उपयोग वस्त्रोत्पादन में किया जाता था। इससे दरियाँ व खेस आदि बनाए जाते थे। 'जुलाहा' जाति के लोग खड्डियों

पर मोटा खद्दर बनाते थे। कहलूर के राजा आनन्द चन्द द्वारा सूती बुनाई को बहुत प्रोत्साहन दिया गया। वे खादी के पक्के समर्थक थे और स्वयं भी खादी पहनते थे। उन्होंने पाठशालाओं में कताई को एक विषय के रूप में रखवाया था। बाहरी शिवालिक क्षेत्र में कुछ दशकों पूर्व तक 'कतावण' बनाने की परम्परा थी। 'कतावण' डिज़ाइन कई तहों वाले पतले कपड़े को एक विशेष पैट्रन में काट कर बनाए जाते हैं, जिसके खुलने पर एक प्रकार के पैट्रन वाले डिज़ाइन बनते हैं। इसके लिए सामान्यतः लाल अथवा चमकीले पीले या नीले कपड़े का प्रयोग होता है। इस रंगीन पैट्रन वाले कपड़े को मोटे खद्दर के कपड़े के ऊपर रख कर सिला जाता है, जिससे यह एक सुन्दर विभिन्न गाढ़े रंगों वाले मोटे एक-पीस के कट-वर्क का रूप ले लेता है। इस कट-वर्क की कला को मशीनी युग के साथ बदलते सामाजिक-आर्थिक परिवेश ने प्रभावित किया है। फिर भी मण्डी, बिलासपुर, सोलन व चम्बा में कहीं-कहीं ग्रामीण स्त्रियाँ अभी भी इस कला को ज़िन्दा रखे हुए हैं। पूर्व में महिलाओं द्वारा ओढ़नियों, सिरहानों, गौमुखी आदि पर भी फूलों वाले तथा अन्य आकारों वाले डिज़ाइन बनाने का प्रचलन था, जिन्हें बेटियों के विवाह पर, उपहार-स्वरूप दिया जाता था। परन्तु अब मिलों में बनी वस्तुओं के प्रचलन से यह कला भी कम ही दिखाई देती है। गुज्जर महिलाएँ अपने वस्त्रों को पैच-वर्क पैटनों द्वारा सुशोभित करती हैं। ये परम्परानुसार सामान्यतः काले रंग के वस्त्र पहनती हैं, जिन पर यह बहु-रंगीय पैट्रन लगाए जाते हैं।

हिमाचल प्रदेश के ऊपरी क्षेत्रों के अत्यन्त ठण्डे सर्दी के मौसम ने यहाँ के लोगों को ऊन की बुनाई करने पर मजबूर कर दिया है। इन क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति व शीत जलवायु भेड़-बकरी पालन के लिए उपयुक्त है और इससे ऊनी वस्त्रों की आवश्यकता भी पूरी होती है। इसके साथ-साथ ऊन बुनाई यहाँ एक सुन्दर कला के रूप में उभरी है, जिसे परिवारों के समूहों अथवा व्यावसायिक बुनकरों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी सदियों से आगे बढ़ाया तथा विकसित किया है। बुनाई यहाँ सृजनात्कता की ज़रूरत को भी पूरा करती है और लोगों की रोज़मर्रा की नीरस ज़िन्दगी में नए मायने व रंग भी भरती है।

बुनाई कला की हिमाचल प्रदेश में शुरुआत कब हुई, यह कहना तो शायद सम्भव नहीं है, परन्तु यह तय है कि यह कला यहाँ बहुत पुरातन है। प्रदेश में ऊन काफ़ी मात्रा में उत्पन्न होती थी। तिब्बत के साथ व्यापार की सुविधा होने के कारण यहाँ से ऊन व पशमीना काफ़ी मात्रा में निर्यात होता था। ऊन की इस अधिकता ने कताई व बुनाई को घर-घर का उद्योग बना दिया। परम्परागत मान्यताओं के अनुसार, ऊन को पवित्र माना जाता है और इस क्षेत्र में सभी धार्मिक अनुष्ठानों के लिए ऊनी कपड़े बुनना शुभ माना जाता है।

एक ब्रिटिश अफ़सर जे.बी. फ्रेज़र, सन् 1815 में बुशहर रियासत, वर्तमान किन्नौर जिसका हिस्सा था, में भ्रमण करते हुए लिखते हैं कि अच्छी किस्म की ऊन काफ़ी मात्रा में रियासत में उपलब्ध थी और इससे बेहतर किस्म की ऊन भूटान से आयात की जाती थी। एक मोरावियन मिशनरी शीव उन्नीसवीं सदी के अन्त में यूरोप से हस्त चालित खड्डी किन्नौर लाए तथा किन्नौरों को कम्बल बुनना सिखाया। 1914-15 के लगभग, सैल्वेशन आर्मी ने एक बुनाई प्रशिक्षण केन्द्र तत्कालीन चिनी, जो आज का कल्पा है, में स्थापित किया, जहाँ उन्होंने स्थानीय बुनकरों को आधुनिक बुनाई तकनीकें सिखाईं। इस केन्द्र में प्रशिक्षुओं को एक मास्टर बुनकर द्वारा प्रशिक्षित किया जाता था, जिसे मिशनरी युनिट की लुधियाना-स्थित शाखा में प्रशिक्षित किया गया था।

जे.डी. कनिंघम ने 1840 ई. के दशक में बुशहर प्रवास के दौरान आयात व्यापार सम्बन्धी गति-विधियों के बारे में आँकड़े एकत्रित कर एक रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार को प्रस्तुत की थी। उनकी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने सन् 1847 में बुशहर व तिब्बत के मध्य अर्न्तसीमा व्यापार को बढ़ावा देने हेतु सीमा शुल्क को हटा दिया था। इसके फलस्वरूप अधिक तिब्बती व्यापारी बुशहरी बाज़ारों की ओर आकर्षित हुए तथा पूरे राज्य में ऊन पर आधारित लघु उद्योग इससे लाभान्वित हुआ। किन्नौर में ऊन पर आधारित हस्तशिल्प इतना विकसित हुआ कि बुनकरों का एक अलग वर्ग बन गया। रंगीन किन्नौरी कम्बल, गुदमें, मफ़लर तथा अन्य वस्त्र उत्पाद बुशहर के बाज़ारों में लोकप्रिय हो गए। कनिंघम ने भारतीय क्षेत्र तथा तिब्बती ऊन बाज़ारों के बीच बेहतर सड़क व्यवस्था स्थापित करने की भी सलाह दी थी, ताकि बेहतर गुणवत्ता वाली ऊन अधिक मात्रा में तिब्बत से बुशहर व निचले ऊन केन्द्रों तक पहुँच सके। तदनुसार, 1850 ई. में पश्चिमी तिब्बती सीमा से शिमला के बीच एक 'ऊन सड़क' का निर्माण सम्पन्न हुआ, जिसे कालांतर में 'हिन्दुस्तान-तिब्बत सड़क' के नाम से जाना गया।

ऐसा समझा जाता है कि किन्नौर क्षेत्र में ऊन बुनाई की प्रथा 5000 वर्षों से भी अधिक पुरानी है। कहा जाता है कि ऊनी वस्त्रों पर खूबसूरत डिज़ाइन बनाने की कला किन्नौर के सुन्नम गाँव में आरम्भ हुई तथा किन्नौर में यह कला उज़्बेकिस्तान के ताशकन्द से चीन व तिब्बत होते हुए आई। इस व्यस्त व्यापार मार्ग पर होने के कारण किन्नौरी बुनाई पर पड़े प्रभाव को 'दीवार-ए-चीन' आदि परम्परागत डिज़ाइनों में स्पष्ट देखा जा सकता है। यदि हम वर्तमान परिदृश्य को देखें तो हिमाचल प्रदेश के किन्नौर आदि ऊपरी क्षेत्रों में बुनाई हेतु मुख्यतया ऊन का ही प्रयोग किया जाता है, क्योंकि ये क्षेत्र ऊन के उत्पादन में भी अग्रणी हैं। प्रदेश में ऊन के उत्पादन में मात्रा व गुणवत्ता में सरकार के प्रयासों से सुधार हुआ है।

स्थानीय स्तर पर उपलब्ध होने वाली ऊन को ग्राहकों व व्यापारियों द्वारा सामान्यतया सर्दियों में खरीदा जाता है, जब भेड़पालक निचले क्षेत्रों में आते हैं। तदोपरान्त इसे साफ़ कर के काता जाता है तथा फिर पट्टियाँ, पट्टू, शॉल, मफ़लर व दोहड़ू आदि बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है ।

पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के अन्दरूनी इलाकों में भेड़-बकरियों की देसी व अन्य प्रजातियों के पालन-पोषण के लिए बढ़िया पर्यावरण उपलब्ध है। ये जीव अलग-अलग गुणवत्ता वाली ऊन का उत्पादन करते हैं। जहाँ बाहरी समशीतोष्ण इलाकों में मोटी ऊन पैदा होती है, वहीं भीतरी हिमालय क्षेत्र के यंगथंग क्षेत्र में अति उत्तम किस्म की मुलायम ऊन का उत्पादन होता है। ऊन की गुणवत्ता इन जानवरों की नस्लों पर भी निर्भर करती है। सामान्यतया सर्दियों के बाद निकाली गई ऊन के रेशे अधिक मुलायम होते हैं। ऊन की गर्मी व गुणवत्ता जलवायु के साथ-साथ बढ़ती जाती है। निचले गर्म क्षेत्रों में जहाँ से भेड़ें पलायन नहीं करतीं वहाँ वे लम्बे व रूखे बालों से ढकी रहती हैं, जिनसे निकलने वाली ऊन को 'देसर' कहा जाता है। गद्दी तथा बुशहरी भेड़ों से निकलने वाली ऊन की गुणवत्ता अन्दरूनी, ऊँचाईवाले क्षेत्र में बढ़ती जाती है, क्योंकि वहाँ तापमान व नमी का स्तर कम रहता है। किन्नौरी भेड़ों से प्राप्त होनेवाली इस प्रकार की ऊन को 'बयाँगी' कहा जाता है। इसके रेशे की लम्बाई 5-6 इंच होती है। बयाँगी ऊन को किन्नौर व स्पीति के व्यापारियों द्वारा चीनी क्षेत्र से ब्रिटिश सरकार के लिए रामपुर तक आयात किया जाता था, क्योंकि इसे बहुत गर्म माना जाता था। किन्नौरी मेमने को स्थानीय भाषा में 'चीगू' कहा जाता है। इसके शरीर के निचले भाग से प्राप्त होनेवाली ऊन को 'इम्बू' कहा जाता है और इसे 'बयाँगी' ऊन से बेहतर माना जाता है। इसके रेशे की लम्बाई 2 से 4 इंच तक होती है।

मिश्रित नस्ल की भेड़ें देसी व मैरिनो भेड़ों का सम्मिश्रण होती हैं, इनसे भी ऊन प्राप्त की जाती है। इस ऊन की गुणवत्ता देसी ऊन से बेहतर होती है। देसी ऊन सफेद, काले व भूरे रंगों में मिलती है। इसके मोटे व रुखे रेशे होने के कारण आम तौर पर इसे कम्बल, पट्टू, दोहड़ू अथवा नमदे आदि बनाने में प्रयोग किया जाता है। बेहतर किस्म की देसी ऊन से शॉल बनाए जाते हैं।

आजकल ऑस्ट्रेलिया से आयातित मैरिनो ऊन का प्रचलन हिमाचल प्रदेश में बहुत बढ़ गया है, जिसका कारण इस ऊन की बेहतर गुणवत्ता है। इसके रेशे देसी ऊन से ज़्यादा मुलायम व लम्बे होते हैं। अब किन्नौर व कुल्लू के अधिकतर ऊनी उत्पाद इसी मैरिनो ऊन से बनाए जाने लगे हैं। शॉलों में इस ऊन को हाथ से कात कर उपयोग में लाया जाता है अन्यथा इसे मशीन पर ही काता जाता है। ऊन की बुनाई हेतु पहले-पहल पिट-लूम का प्रयोग आरम्भ हुआ। यह खड्डी अभी

भी किन्नौर क्षेत्र में काफ़ी लोकप्रिय है, क्योंकि इसे बुनकर द्वारा स्वयं अपने घर के निचले अकेले भाग में स्थापित किया जा सकता है। खड्डी के फ्रेम को फर्श पर स्थापित किया जाता है। इसके पैडल एक पिट (गड्डे) में होते हैं तथा बुनकर फर्श पर बैठे हुए ही हथकरघे पर कार्य करते हैं और उनके पाँव पिट में करघे के पैडलों पर होते हैं।

कुछ बुनकर अब लकड़ी के थ्रो-शटल हथकरघों पर कार्य करने लगे हैं। यह पिट-लूम की तरह ही होता है। परन्तु इसमें बुनकर एक बैंच पर बैठता है और उसके पाँव फर्श पर होते हैं। इन दोनों प्रकार की खड्डियों में अधिकतम चार शैफ्ट व चार पैडल होते हैं। सामान्यतया परम्परागत उत्पाद जैसे दोहड़ू, पट्टू, पट्टी व कम्बल आदि, जिन्हें अधिकतर अपने इस्तेमाल के लिए बनाया जाता है, पिट-लूम अथवा थ्रो-शटल लूम पर बनाए जाते हैं।

अब प्रदेश में फ्लाई-शटल हथकरघों का प्रयोग बढ़ा है। सरकारी एजेंसियों द्वारा बुनकरों को उपलब्ध करवाए जानेवाले हथकरघे अब सामान्यतया इसी प्रकार के होते हैं। जैसा नाम से ही प्रतीत होता है, इस करघे में फ्लाई शटल का प्रयोग किया जाता है। हाथ से फेंकनेवाले और फ्लाई शटल में मुख्य अन्तर यह है कि इस शटल के साथ बुनाई करने हेतु हाथ का प्रयोग शटल फेंकने हेतु नहीं किया जाता, अपितु शटल हत्थे पर रस्सी से बन्धे हत्थे या पिकर की सहायता से चलती है। रस्सी से हत्था बंधा होता है, जिसे हाथ के साथ बायें या दायें चलाया जाता है। चलाने से शटल स्ले रेस पर दायें या बायें जाती है। गलीचा बुलाई हेतु क्षेत्र में गलीचा बुनाई करघा प्रयोग में लाया जाता है जिसे आदिकालीन करघे की तरह लम्बत रूप में उपयोग किया जाता है। क्षेत्र में मुख्यतः तिब्बती डिज़ाइनों वाले गलीचे ही बनाए जाते हैं, जो इसी विधि से बनते हैं।

किन्नौर के ऊनी उत्पादों में किन्नौरी शॉल सबसे प्रमुख है। यह मुलायम व गर्म शॉल उच्च कारीगरी के कारण भी विश्व प्रसिद्ध है। हिमाचल प्रदेश के अन्य क्षेत्रों, जैसे कुल्लू आदि में बनाए जानेवाले शॉलों व अन्य उत्पादों में भी किन्नौरी प्रभाव स्पष्ट झलकता है। हिमाचल प्रदेश के शॉलों की एक अलग विशेषता यह है कि ये दोनों तरफ से एक से दिखते हैं। हाथ से बाने में रंगीन धागा बुनाई के दौरान डालने से शॉल बुनाई, डिज़ाइन व रंगों की व्यवस्था में दोनों तरफ से एक-सा दिखाई देता है। इस तरह का प्रभाव पॉवर लूम अथवा दूसरे किसी अन्य विकसित करघे से सम्भव नहीं है।

किन्नौर के शॉल का एक इतिहास है। *'मझिया निकाय'* के अनुसार वहित देश, जो जम्मू-कश्मीर व हिमाचल प्रदेश के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में फैला हुआ था, 'वहितिका' यानी ऊनी लोई बनाने के लिए प्रसिद्ध था। ऐसी एक 'लोई' महात्मा

बुद्ध के एक निकट शिष्य आनन्द को राजा प्रसन्नजीत ने भेंट की थी। इससे स्पष्ट है कि यहाँ प्लेन ऊनी वस्त्र-वहितिका यानी लोई, बनाने की कला ईसा पूर्व छठी-पाँचवी सदी में भी प्रचलित थी। भारतीय साहित्य में अंगवस्त्र, कटिवस्त्र, कमरबन्द आदि बिन सिले वस्त्रों के उल्लेख से भी स्पष्ट है कि भारत में शॉल जैसे वस्त्र बहुत पुरातन काल में भी प्रचलित थे।

फारसी शब्द 'शाल' जिससे अंग्रेज़ी शब्द 'शॉल' बना है, एक ऐसे बुने हुए ऊनी वस्त्र के लिए था, जिसे पहनावे के तौर पर उपयोग किया जाता था। परन्तु भारत में 'शॉल' शब्द का उपयोग एक ऐसे बुने हुए वस्त्र के लिए हुआ जिसे कंधों पर ओढ़ा जाता है। किन्नौरी महिलाओं के शॉलों को 'छनली' कहा जाता है। जिसका आकार सामान्यतया दो मीटर लम्बा व एक मीटर चौड़ा होता है। इनमें डिज़ाइनों की तीन लाईनें, जिन्हें फूल कहा जाता है, दोनों तरफ होती हैं। इनके मध्य में अलग डिज़ाइन की तीन लाईनें होती हैं, जिन्हें तारा कहा जाता है। लेंगचा एक अन्य प्रकार का शॉल होता है, जिसका आकार छोटा होता है। एक मीटर X एक मीटर आकार के इस वस्त्र पर सब तरफ फूल व तारे बुने होते हैं। इसे कन्धों के ऊपर ओढ़ा जाता है तथा सामने एक ब्रोच, जिसे 'डिगरा' कहा जाता है, से इसे बाँधा जाता है। किन्नौर का एक और महत्त्वपूर्ण ऊनी उत्पाद *दोहड़ू* है। दोहड़ू का अर्थ दो तहों वाला कम्बल है तथा यह एक बड़े आकार के पट्टू की तरह होता है, जिसे क्षेत्र के भीतरी भागों में कई तहें बनाकर रजाई की भान्ति प्रयोग किया जाता है। शिमला जिले के भीतरी इलाकों में इसे *ढाबल़ी* कहा जाता है। किन्नौर क्षेत्र में दोहड़ू महिलाओं द्वारा ओढ़ा जाता है। इसे सरोंग की तरह लपेटा जाता है और कन्धों पर पिन से बाँधा जाता है। इसके दोनों छोरों पर आकर्षक डिज़ाइन बनाए जाते हैं। दोहड़ू को कमर पर *'गाची'* से बाँधा जाता है।

पट्टू भी एक अन्य ऊनी उत्पाद है, जिसका उपयोग किन्नौर क्षेत्र में होता है। हालाँकि कुल्लू क्षेत्र में यह अधिक प्रचलित है। कोट, जैकेट व पतलून के लिए बनाई जानेवाली स्थानीय ट्वीड को पट्टी कहते हैं। यह पट्टू का सिला हुआ रूप होता है । पट्टी की चौड़ाई एक हाथ व लम्बाई सात हाथ (लगभग तीन मीटर) होती है। लम्बाई इससे अधिक भी की जा सकती है, परन्तु चौड़ाई सामान्यतः यही रहती है। पट्टी अधिकतर स्थानीय ऊन से सफेद, ब्राऊन या काले रंग में बनाई जाती है। इसे प्लेन, धारीदार या चैक डिज़ाइन में बनाया जाता है और इसकी भली प्रकार मण्डाई की जाती है, ताकि यह बर्फ़, वर्षा तथा हवा से बचाव कर सके। *गाची* पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के स्थानीय लोगों का एक प्राचीन ऊनी वस्त्र है। यह इस क्षेत्र के परम्परागत पहनावे का एक अभिन्न हिस्सा है। इसे कमरबन्द की तरह महिलाओं व पुरुषों द्वारा कमर के गिर्द पहना जाता है। यह एक बहुत व्यावहारिक

वस्त्र है, क्योंकि यह न केवल भारी बोझ उठाए हुए पहाड़ी लोगों को सीधा व दुरूस्त रखता है, बल्कि दराट या अन्य उपयोगी चीज़ों को रखने के लिए जगह भी देता है। गाची के सिरों को शॉलों की तरह रंगीन डिज़ाइनों से सजाया जाता है।

मफ़लर या गुलबन्द क्षेत्रीयं ऊनी उत्पादों में एक नया नाम है। फैशन के बदलते युग में मफ़लर का प्रयोग फैशन के तौर पर अधिक हो रहा है और ठण्डे पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों को अन्य ऊनी उत्पादों की तरह ठण्ड से बचाने में इसका उपयोग सीमित है। ऊन, पशमीना या रफल के मफ़लर विभिन्न प्रकार से बनाए जाते हैं। ये प्लेन व डिज़ाइन वाले होते हैं और इनमें शॉलों के डिज़ाइनों का ही प्रयोग किया जाता है। किन्नौर व स्पीति क्षेत्र का एक अन्य ऊनी उत्पाद *गुदमा* है। गुदमा एक चौड़ी ऊनी चादर की तरह होता है, जिसे बिस्तर पर बिछाने के लिए प्रयोग में लाया जाता है । गर्म व मुलायम गुदमे का सामान्य आकार 1.50 मीटर चौड़ा व चार मीटर लम्बा होता है, इसे दोहरा लपेट कर शरीर को ढका जा सकता है। गुदमे को अच्छी तरह ब्रश से रगड़ा जाता है, जिससे इसके रेशे फ़र की भान्ति उभरे रहते हैं। गुदमा काले या सफेद रंग में बनाया जाता है और कभी-कभी इसकी किनारियों पर लाल धारी भी बनाई जाती है।

किन्नौर का एक अन्य विशेष उत्पाद खम्बरुदार पाजामा है। इस पाजामे के लिए कपड़ा 3.50 मीटर लम्बा व आधा मीटर चौड़ा बुना जाता है। इसे ऊन या पशमीना से बनाकर उस पर डिज़ाइन बुना जाता है। यह डिज़ाइन कपड़े के दोनों सिरों पर रंगीन धागे से खूबसूरती से रचा जाता है, जिससे पाजामे का निचला हिस्सा बनता है। लोक नर्तकों द्वारा पहना गया खम्बरूदार पाजामा उनके नृत्य को और दर्शनीय बना देता है। किन्नौरी टोपी भी सिर पर पहना जानेवाला एक विशिष्ट उत्पाद है। किन्नौरी टोपी स्त्री-पुरुष दोनों पहनते हैं। किन्नौरी व बुशहरी टोपियाँ एक समान होती हैं। उनमें अन्तर सिर्फ पल्ले के रंग का होता है। परम्परागत बुशहरी टोपी के पल्ले को हरे रंग की शनील से सजाया जाता है, जबकि किन्नौरी टोपी की शनील गाढ़े लाल रंग की होती है। इसके अतिरिक्त किन्नौर में देसी ऊन से गलीचे बनाने की भी परम्परा है। यह गलीचे सामान्यतः 3 फुट X 6 फुट या 6 फुट X 9 फुट के आकार के होते हैं। परन्तु आवश्यकतानुसार छोटे आकार के गलीचे भी बनाए जा सकते हैं। परम्परानुसार गलीचे पर तिब्बती डिज़ाइन डाले जाते हैं, जिनमें ड्रेगन, पक्षी आदि के डिज़ाइन प्रमुख हैं। गलीचों के हथकरघे शॉलों के हथकरघों से भिन्न होते हैं।

किन्नौरी डिज़ाइनों पर बुनकर के परिवेश, धर्म, परम्परा तथा जीवन-दर्शन का बहुत प्रभाव देखने को मिलता है। डॉ. ओ.सी. हाण्डा के अनुसार किन्नौरी शॉलों का व्यापक धार्मिक महत्त्व है। बहुत से डिज़ाइन बौद्ध धर्म के प्रतीक हैं। सामान्यतया

किन्नौरी बुनाई की डिज़ाइन में एक रंग का अधिक प्रयोग होता है तथा शेष रंग छुटपुट रूप में प्रयुक्त होते हैं। अधिकतर लाल रंग का प्रयोग होता है जो किन्नौरी उत्पादों का विशिष्ट रंग है। इसे पीले व नीले रंग तथा थोड़ी मात्रा में सफेद व हरे रंग के साथ सम्मिश्रित किया जाता है। ये रंग पाँच तत्त्वों के प्रतीक हैं। जब बौद्ध डिज़ाइन इन पाँच रंगों में प्रस्तुत किए जाते हैं तो वह एक रहस्यवादी आध्यात्मिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सम्मिश्रण अध्यात्म, सत्य व ज्ञान का प्रतीक है, जो इन शॉलों को एक अलग प्रकार की धार्मिक व सौन्दर्य-बोधात्मक गरिमा प्रदान करता है। इससे यह मात्र एक खूबसूरत कपड़े के टुकड़े के बजाय एक मण्डल की भान्ति लगते हैं । हालाँकि किन्नौरी उत्पाद दूसरे रंगों में भी बनाए जाते हैं, परन्तु मुख्यतः इन्हीं पाँच धार्मिक महत्त्व के रंगों का प्रयोग होता है। इस प्रकार किन्नौरी ऊनी उत्पादों में बौद्ध धर्म की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। किन्नौरी शॉलों पर खूबसूरत कलाकारी हेतु बौद्ध धर्म के प्रतीकों के प्रयोग से कला के इन नमूनों का धार्मिक महत्त्व हो जाता है और ये मात्र कला-वस्तुएँ न रह कर अध्यात्म से जुड़ जाती हैं।

किन्नौर क्षेत्र के बुनकरों को परम्परागत डिज़ाइन व विशिष्ट रंगों के सम्मिश्रण बहुत प्रिय हैं। यही कारण है कि वे अपनी प्राथमिकतानुसार शॉलों पर परम्परागत डिज़ाइन बनाते हैं। किन्नौर के डिज़ाइन मुख्यतः रेखागणितीय होते हैं। इनमें शैलीबद्ध जटिल बौद्ध प्रतीकों तथा पेचीदा रेखा-चित्रीय नमूनों का मिश्रण होता है, जिनमें षडभुज (ग्यातोगोर तंक) तथा समकोण (पल्पे) आदि शामिल होते हैं। इन डिज़ाइनों में आम भाषा में छवेहिन, छोकतिन, दोर्जे, गऊ, खावा टिबी, तरशुल, टपरू, यंग रंग आदि कहलानेवाले प्रतीक दिखाई देते हैं। ये सभी प्रतीक बौद्ध स्रोतों से लिए गए हैं। किन्नौरी ऊनी उत्पादों पर पाये जानेवाले कुछ लोकप्रिय डिज़ाइन निम्न है–

1. बोदतंका 2. बोलटपरू 3. बुम्बा 4. चामुंग तंको 5. चथम 6. छोलो या रेपांग 7. छबेहिन 8. छोकतिन, छुसतिन या छोरतेन 9. छोलो पानमा 10. दीवार-ए-चीन 11. दोर्जे 12. दोर्जे गीथम 13. दोर्जे तनकद 14. गऊ टोपरू या घू टोपरू 15. गऊ 16. गीथंग चांगरी 17. गियानक चांगरी 18. गायत पतलम या रंगशी 19. गुड़ गुड़, 20. गोसांग-टोपरू 21. ग्यां तुंग या थंका 22. होम पतक 23. खाबा टीबी, 24. खचब, 25. ख्यूतिंग 26. पाल्पे 27. पानमा 28. पीदो टोपरू या गोल छंग 29. प्याज़ पतरंग 30. प्युत टोपरू, 31. रैबलॉक 32. रोकरो खंग 33. शिंगलो 34. शोराच 35. तान्बा 36. तंका या टोपरू 37. तरशूल टपरू या त्रिशूल 38. थंगोमा 39. थेलीवेल 40. यगूमा 41. यंग रंग 42. यंग रंग पकदेल।

किन्नौरी बुनाई कला का स्पष्ट प्रभाव कुल्लू की बुनाई कला पर दिखाई

देता है। यह कहा जा सकता है कि किन्नौरी बुनाई कुल्लू बुनाई की पूर्वाधिकारी है। किन्नौरी बुनाई को सर्वप्रथम 1830 ई. के दशक में कुल्लू घाटी में लाया गया, जब किन्नौर के रोपा गाँव के बुनकर स्थानीय शासक के जुल्म से बचने के लिए भाग कर कुल्लू पहुँचे थे। यहाँ यह सर्वप्रथम चाटन सेरी गाँव में बसे जहाँ से वे धीरे-धीरे सरसेई, मनाली, अंगो डोभी तथा अन्य गाँवों में फैल गए। यहाँ पलायन करने के बाद इन बुनकरों ने अपनी कला जारी रखी और उन्हें अपनी डिज़ाइन तकनीक कुल्लू के लोगों को सिखाने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। उससे पूर्व कुल्लू में सिर्फ प्लेन या चैक डिज़ाइन ही बनाए जाते थे। उनके शॉलों व पट्टुओं पर कोई डिज़ाइन नहीं होते थे। किन्नौरी छनली, लेंगचा व दोहड़ू पर बनाए जानेवाले डिज़ाइन कुल्लूवी डिज़ाइनों के लिए प्रेरक बने। किन्नौरी डिज़ाइनों को साधारण रूप में थोड़ा बड़ा कर के कुल्लू डिज़ाइन बनाए गए। कुल्लू डिज़ाइनों में रंगों के सम्मिश्रण में भी अन्तर किया गया तथा उन्हें अधिक चमकीले व अलग तरह के रंगों में प्रस्तुत किया गया जिससे वे किन्नौरी डिज़ाइनों से भिन्न हो गए।

कुल्लवी रंगों की पद्धति में सामान्यतया सात रंगों का सम्मिश्रण है, जो बराबर अनुपात में प्रयोग होते हैं। परम्परागत तौर पर पट्टियों पर प्रयुक्त होनेवाले रंगों में लाल, नीला, हरा, पीला, गुलाबी, संतरी, सफेद व काला है। कुल्लू डिज़ाइन अधिकांशतः किन्नौरी डिज़ाइनों से कहीं ज़्यादा चमकीले रंगों में बुने जाते हैं । इसका कारण सम्भवतः इस बुनाई की शुरुआत में उपलब्ध रंगदार धागे थे। जिस समय कुल्लवी पट्टुओं पर पैट्रनों वाली किनारियाँ बनाने का प्रचलन आरम्भ हुआ, उस समय कुल्लू घाटी में मिल का बना हुआ आयातित चमकीला जापानी धागा उपलब्ध था। यह चमकदार रंगीन धागा आमतौर पर प्राकृतिक रंगों से रंगे धागों से बुनाई करनेवाले बुनकरों को बहुत आकर्षक लगा होगा, जिस कारण उन्होंने पट्टुओं के पैट्रनों में इनका प्रयोग शुरू किया। समय के साथ-साथ चमकदार ऊनी धागे की अनुपलब्धता तथा इसके रंगों के पक्का न होने के कारण अब अधिकतर बुनकर रंगीन बॉडरों हेतु एकरिलिक धागे का प्रयोग करने लगे हैं। इस धागे के रंग पक्के होते हैं। जहाँ-जहाँ बुनकर बाज़ार की माँग देखकर एकरिलिक धागे का इस्तेमाल नहीं करना चाहते, वहाँ वे हल्के रंगों में प्राकृतिक रंगाई युक्त ऊनी धागे का प्रयोग डिज़ाइनों में कर रहे हैं। बाज़ार की मांग के आधार पर सात रंगों के परम्परागत सम्मिश्रण को भी बदल दिया गया है, जिससे आज बाज़ार में उपलब्ध कुल्लू शॉल परम्परागत उत्पादों से कहीं भिन्न हैं।

परम्परानुसार अच्छी गुणवत्ता वाली सफेद ऊन को पुरुषों के प्रयोग हेतु बननेवाली *'लोई'* के लिए इस्तेमाल किया जाता था; जबकि कम गुणवत्ता वाली मोटी ऊन का प्रयोग पट्टू बनाने हेतु होता था। सफेद के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक रंगों

में भी 'लोई' बनाई जाती है। 'लोई' शब्द का प्रयोग कश्मीर से बुशहर तक अच्छी किस्म की ऊन से बने वस्त्र के लिए होता है। 'लोई' वर्तमान में प्रचलित शॉल का पुराना बड़ा रूप है। लोई प्लेन व आकार में बड़ी होती है, वहीं स्त्रियों के लिए सामान्यतया प्रयोग होने वाले शॉल आकार में छोटे व रंगीन डिज़ाइन लिए होते हैं। कुल्लू शॉल की विशेषता इसके किनारों पर चौड़ाई की ओर बने स्ट्राइप या बैण्ड हैं। ये कम या अधिक चौड़े हो सकते हैं तथा इन्हें विभिन्न चमकीले रंगों में कई प्रकार के पैट्रनों में बुना जाता है। कुल्लू बुनाई में आया 'दीवार-ए-चीन' का प्रयोग पहले किन्नौरी बुनकरों द्वारा आरम्भ किया गया, जो तिब्बती व्यापारियों के लगातार सम्पर्क में रहने पर चीन के सम्बन्ध में कथाएँ सुना करते थे। कुल्लू शॉल पर बननेवाले परम्परागत डिज़ाइनों में फूल, बुशहरी धारी, लुंगी धारी, महीन धारी, धुमकुए, कन्धू, टीपू, तारा, गुड्डी, चिड़िया, किड़ू, डब्बीदार किड़ू आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आज के प्रचलित डिज़ाइनों में किन्नारी, पट्टू बेल, पान, जुट्टू पल्ला, स्वास्तिक, केन्ची, चश्मी, क्रास बॉर्डर, फोर-साईड बॉर्डर, किन्नौरी कॉम्ब आदि शामिल हैं। ये सभी डिज़ाइन पारम्परिक किन्नौरी व कुल्लू डिज़ाइनों के सरलीकृत रूप हैं। पारम्परिक डिज़ाइनों से लिए गए मूलभाव को विभिन्न रंगों के सम्मिश्रण में प्रस्तुत किया जाता है। बुनकर इन्हें डिज़ाइन की शक्ल के अनुसार अपनी कल्पनानुसार नाम देते हैं।

समय के साथ किन्नौरी व कुल्लूवी बुनाई की परम्परा में गिरावट आई है। हालाँकि किन्नौरी बुनाई अभी अपना परम्परागत स्वरूप बनाए हुए है, इसीलिए अभी किन्नौरी बुनाईवाले उत्पादों की बाज़ार में मांग है। कुल्लूवी बुनकर परम्परागत डिज़ाइनों को छोड़ कर नए प्रकार के डिज़ाइन चमकीले रंगों में प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे इस कला का कलात्मक स्वरूप प्रभावित हुआ है। आज इन परम्परागत कलाकृतियों को बदलते बाज़ार की माँग से खतरा पैदा हो गया है। कुल्लूवी शॉलों को लुधियाना में निर्मित पॉवरलूम के उत्पादों से भी गम्भीर क्षति पहुँच रही है। कुल्लू-मनाली के बाज़ारों में लुधियाना के पावरलूम निर्मित शॉलों को कुल्लू शॉल के नाम पर बेचा जा रहा है। इससे न केवल कुल्लू शॉल का नाम बदनाम हो रहा है, बल्कि बुनकरों की आर्थिक दशा भी बिगड़ रही है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में तेज़ी से हो रहे बदलाव के कारण बुनकरों को आर्थिक तंगी के दौर से गुज़रना पड़ रहा है। बाज़ार की प्रतिस्पर्धा व बदलती मांग के कारण बुनकर परम्परागत डिज़ाइनों को छोड़ कर कम मेहनतवाले व सस्ते किस्म के उत्पाद बनाने पर विवश हो रहे हैं। युवा पीढ़ी भी बुनाई के कार्य में पर्याप्त आय न होने के कारण इस ओर आकर्षित नहीं हो रही है। इसके लिए बुनाई कला में परम्परा को छोड़े बगैर ही कुछ बदलाव लाने की आवश्यकता है। उत्पादों का

विविधीकरण होना चाहिए। बाज़ार की माँग के अनुसार परम्परागत डिज़ाइनों में नए उत्पाद तैयार करने होंगे। स्थानीय ऊन की गुणवत्ता में सुधार करना होगा। इसे ऑस्ट्रेलियाई मेरिनो ऊन की भान्ति ज़्यादा मुलायम व बेहतर बनाना होगा। रंगों, डिज़ाइनों तथा आकार आदि में नए प्रयोग करने होंगे, ताकि परम्परागत शॉल को ही एक नया रूप दिया जा सके। पुराने परम्परागत किन्नौरी डिज़ाइन, जिन्हें बुनकरों ने बनाना बन्द कर दिया है, उनका पुनरुद्धार करना होगा।

हथकरघा व हस्तशिल्प क्षेत्र कृषि के बाद ग्रामीण अर्थव्यवस्था में रोज़गार पैदा करनेवाला दूसरा बड़ा क्षेत्र है। सरकार के प्रयासों तथा प्रदेश में पर्यटकों की आवाजाही के कारण हथकरघा व हस्तशिल्प उत्पाद की आज भी माँग हैं। पिछले कुछ वर्षों में पारम्परिक डिज़ाइनों को, विभिन्न राष्ट्र स्तरीय संस्थानों जैसे एनआईडी अहमदाबाद व निफ्ट आदि के डिज़ाइनरों की सहायता से पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया है। भारत सरकार द्वारा वर्ष 1999 में Geographical Indications Act लागू किया गया है, जिसमें विशेष भौगोलिक क्षेत्रों में निर्मित उत्पादों को पेटेन्ट/पंजीकृत करने का प्रावधान है, ताकि वहाँ के स्थानीय समुदाय के हितों की रक्षा की जा सके तथा उनके उत्पादों की नकल अथवा नाम का दुरुपयोग रोक कर, उनके विपणन की माँग को बढ़ाया जा सके। कुल्लू शॉल, किन्नौरी शॉल व चम्बा रूमाल को उक्त अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत किया जा चुका है। इससे इनकी नकल करने व इनके नाम का दुरुपयोग करने पर रोक लगेगी। समय की माँग है कि बुनकरों व हस्तशिल्पियों में जागरूकता लाई जाए, ताकि वे स्वंय भी संगठित होकर उनके हितों को नुकसान पहुँचानेवालों के विरुद्ध खड़े हो सकें।

कला से परिपूर्ण हिमाचली वस्त्र उत्पाद भारत की सांस्कृतिक धरोहर का हिस्सा हैं। इनकी कलात्मकता को बचाये रखने के लिए विभिन्न स्तरों पर व्यापक प्रयास करने की आवश्यकता है, ताकि हमारी इस सांस्कृतिक धरोहर को बचाया जा सके तथा इसका प्रभावी ढंग से संरक्षण हो।